विद्वत परिषद द्वारा समीक्षित पत्रिका

ISSN 2349-1906

साहित्य यात्रा

वर्ष 10 अंक 43 जुलाई-सितम्बर, 2025

साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

संपादक
कलानाथ मिश्र

अनुग्रह नारायण महाविद्यालय, पटना और हिंदवी के संयुक्त तत्त्वावधान में आयोजित 'हिंदी कैंपस कविता' के अवसर पर काव्य पाठ करते हुए वरिष्ठ कवि आलोकधन्वा।

अनुग्रह नारायण महाविद्यालय, पटना के हिन्दी विभाग द्वारा आयोजित विशेष व्याख्यान माला में हिन्दी विभागाध्यक्ष प्रो. कलानाथ मिश्र, प्रो. अवधेश प्रधान, प्रो. सदानंद साही और डॉ. संजय कुमार सिंह।

ISSN 2349-1906
वर्ष 3 अंक 11 अप्रैल-जून 2017

पटना पुस्तक मेला में प्रलेक प्रकाशन के स्टॉल पर बुद्धिनाथ मिश्र के गीत संग्रह 'गीत उत्तरा फाल्गुनी' के लोकार्पण के अवसर पर साहित्यानुरागी विद्वतजन।

मंत्रिमंडल सचिवालय, बिहार सरकार के राजभाषा विभाग द्वारा आयोजित सृजनात्मक लेखन कार्यशाला (हिंदी कथा साहित्य) का उद्घाटन करते हुए डॉ. ओम प्रकाश वर्मा, श्री सुमन कुमार, डॉ. कुमार वरुण, साहित्य यात्रा के संपादक, कथाकार डॉ. कलानाथ मिश्र, डॉ. शिवदयाल, डॉ. निवेदिता और डॉ. ध्रुव कुमार।

विद्वत परिषद् द्वारा समीक्षित पत्रिका

Peer Reviewed Journal

साहित्य यात्रा

साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा का साक्षी

संपादक

कलानाथ मिश्र

साहित्य यात्रा
साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा का साक्षी

सदस्यता फार्म

एक अंक	:	150/- (डाक खर्च के साथ)
'साहित्य यात्रा' विशिष्ट सदस्यता	:	2100/-
एक वर्ष (4 अंक)	:	600/- (डाक खर्च सहित)
तीन वर्ष (12 अंक)	:	2000/- (डाक खर्च सहित)
संस्थागत मूल्य (3 वर्ष)	:	2100/-
आजीवन सदस्यता	:	25000/-
विदेश के लिए (3 अंक)	:	60 डॉलर

(पटना के बाहर के चेक पर कृपया बैंक कमीशन के 40/- रूपये अतिरिक्त जोड़ दें।)

उक्त दर के अनुरूप मैं चेक / ड्राफ्रट संलग्न कर रहा हूँ। ऑन लाईन खाते में डाल दिया हूँ (रेपफरेन्स नं.) कृपया मुझे ग्राहक बना कर मेरी प्रति निम्न पते पर भिजवाएँ।

नाम :-	पद :-
पता :-	
दूरभाष 1 :	दूरभाष 2 :
शहर :	पिन नं. :-
देश :	ईमेल -
संकाय / विभाग / विद्यालय :	

यहाँ से काटिए

भुगतान की जानकारी

नकद/बैंक रकम : रु. ..... द्वारा.....

डी0डी0/प्रत्यक्ष हस्तांतरण/चेक/बैंक का नाम :.....

डी0डी/चेक/स्थानान्तरण संख्या :..... दिनांक :.....

दिनांक :		हस्ताक्षर (या पूरा नाम लिखें)	

ऑनलाइन हस्तांतरण विवरण :- साहित्य यात्रा, पंजाब नेशनल बैंक,
एस.के. पुरी शाखा, पटना-1

खाता क्रमांक- 6236000100016263, IFSC- PUNB0623600

वेबसाईट - www.sahityayatra.com

साहित्य यात्रा

साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा का साक्षी

(पीयर रिव्युड जर्नल)

वर्ष-10 | अंक-43 | जुलाई-सितम्बर 2025

परामर्शी

डॉ॰ सूर्य प्रसाद दीक्षित

डॉ॰ प्रेम जनमेजय

डॉ॰ हरीश नवल

सम्पादकीय सलाहकार

श्री आशीष कंधवे

समीक्षक मंडल

प्रो. शैलेन्द्र कुमार चौधरी
संकायाध्यक्ष, मानविकी संकाय
(पूर्व विभागाध्यक्ष, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, कॉलेज ऑफ कॉमर्स)

प्रो. प्रतिभा सहाय
(पूर्व आचार्य, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग)

डॉ. सुजीत दूबे
(अध्यक्ष एवं एसोसिएट प्रोफेसर, मनोविज्ञान विभाग, ए.एन. कॉलेज, पटना)

उप-संपादक

डॉ. करुणा पीटर 'कमल'

सहायक संपादक

डॉ. अमित कुमार मिश्रा

कार्यालय सहयोग

प्रिया कुमारी

साज-सज्जा

निशिकान्त / मनोज कुमार

संपादक

कलानाथ मिश्र

साहित्य यात्रा में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार एवं दृष्टिकोण संबंधित लेखकों के हैं जिनसे संपादक, प्रकाशक, मुद्रक एवं पत्रिका से जुड़े किसी भी व्यक्ति का सहमत होना अनिवार्य नहीं है। सभी विवादों का निपटारा पटना क्षेत्र के अन्तर्गत सीमित है। पत्रिका में संपादन से जुड़े सभी पद गैर-व्यावसायिक एवं अवैतनिक है। पत्रिका में प्रकाशित किसी भी आलेख का पुनार्प्रकाशन के पूर्व संपादक की अनुमति अनिवार्य है।

साहित्य यात्रा

साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा का साक्षी

RNI No. : BIHHINO5272
ISSN 2349-1906

विश्व विद्यालय अनुदान आयोग (UGC) द्वारा पूर्व अनुमोदित

विद्वत परिषद् द्वारा समीक्षित पत्रिका

© स्वत्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशित सामग्री के पुनः उपयोग के लिए लेखक,
अनुवादक अथवा **साहित्य यात्रा** की स्वीकृति अनिवार्य है।

संपादकीय कार्यालय
'अभ्युदय'
ई-112, श्रीकृष्णपुरी
पटना-800001 (बिहार)
मोबाइल : 8434880332/09304302308/09835063713/9546138889
ई-मेल : sahityayatra@gmail.com
kalanath@gmail.com
वेब साईट : http:/www.sahityayatra.com

मूल्य : ₹100/- (एक सौ रुपये मात्र)

प्राप्ति स्थान :

पटना-
आलोक कुमार सिंह, मैग्जीन हाउस, शालीमार स्टूडियो के पास,
सहदेव महतो मार्ग, बोरिंग रोड, पटना-800001
दिल्ली -
1. आर.के. मैगजीन सेन्टर, क्रिश्चियन कॉलोनी, पटेल चेस्ट,
   दिल्ली, वि.वि., दिल्ली-11007
2. राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, मंडी हाउस, नई दिल्ली

शुल्क **'साहित्य यात्रा'** के नाम पर भेजें।

'साहित्य यात्रा' त्रैमासिक डॉ॰ कलानाथ मिश्र के स्वामित्व में और उनके द्वारा 'अभ्युदय' ई-112, श्रीकृष्णपुरी, पटना-800001, बिहार से प्रकाशित तथा ज्ञान गंगा क्रियेशन्स, पटना से मुद्रित। स्वामी/संपादक/प्रकाशक/मुद्रक : प्रो. कलानाथ मिश्र।

अनुक्रम

संपादकीय 07

आपके पत्र

सूर्यकांत शर्मा 13

पद्मा मिश्रा 14

नीलिमा करैया 15

श्याम सुशील 16

पाठकनामा

मनु मन और सृजन की उज्ज्वल रोशनी से जगमग अंक 17
डॉ. अशोक बैरागी

आलेख

आलोचनात्मक कद्रदानी 21
ब्रज किशोर पाठक

बातचीत

वरिष्ठ साहित्यकार सूर्यप्रसाद दीक्षित से साहित्य-यात्रा के संपादक कलानाथ मिश्र की बातचीत 25
डॉ. कलानाथ मिश्र

आलेख

चरित्रहीन : शरतचन्द्र का टेस्टिमोनियल या लिटमस पेपर 35
डॉ. बहादुर मिश्र

डॉ. शत्रुध्न प्रसाद के ऐतिहासिक उपन्यास 40
डॉ. सदानन्द प्रसाद गुप्त

हिन्दी साहित्य की समृद्धि में मुस्लिम कवियों का योगदान 50
रामबाबू नीरव

हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में हिन्दी की प्रमुख साहित्यिक पत्रिकाओं की भूमिका 55
डॉ. दीपा श्रीवास्तव

साक्षात्कार

यशस्वी नवगीतकार बुद्धिनाथ मिश्र जी से साहित्य-यात्रा के संपादक कलानाथ मिश्र की बातचीत 64
डॉ. कलानाथ मिश्र

कहानी

नैनं दहति पावक : 76
सुधा गोयल

कहानी अपने प्रारंभ से अब तक... 82
राजेन्द्र सिंह गहलौत

आलेख

अमृत राय के कथा-साहित्य में जीवन-दर्शन 93
डॉ. अनुराधा शुक्ला

जन-मन के सहज शिल्पी : डॉ. रामदरश मिश्र 100
प्रो. दिनेश प्रसाद सिंह

संस्मरण

सीमा पार जनकपुर धाम 109
डॉ. मंजरी खरे

पुस्तक समीक्षा

आयुष्यः जीवन में आस्था और सत्य का अन्वेषण 116
डॉ. करुणा पीटर 'कमल'

आलेख

भारतीय संस्कृति और हिन्दी 122
डॉ. अर्चना त्रिपाठी

एक सशक्त और कौतुकी नाटककार 128
तितिक्षा जी वसावा

स्वतंत्र चेता के सर्जक : रामदरश मिश्र 136
प्रिया कुमारी

हिंदी बाल साहित्य का इतिहास-एक रोचक और महत्त्वपूर्ण पुस्तक 140
सोना शर्मा

भारतीय रंगयात्रा में लोकनाट्य शैलियों का महत्व 161
बाबूलाल मीना

रिपोर्ट

रामदरश मिश्र के 101वें जन्मोत्सव में साहित्य सृजन को समर्पित भव्य सम्मान समारोह आयोजित 167
डॉ. वेदमित्र शुक्ल

सम्पादकीय

हिन्दी : देश से विश्व की प्रतिष्ठा तक

भारत में राष्ट्रभाषा का प्रश्न अभी भी अधूरा है। किसी भी राष्ट्र की उन्नति के लिए किसी एक भाषा का होना आवश्यक है, जो संपूर्ण राष्ट्र को एकसूत्र में बाँध सके। भाषा का भाषा से विभेद नहीं होता है, बल्कि एक भाषा दूसरी स्थानीय भाषा को संबल ही देती है। सोलह भाषाओं का जल मिला है तब जाकर हिन्दी रूपी सागर का निर्माण हुआ है। कुछ लोग राजनीतिक कारणों से भाषा को मुद्दा बनाते हैं, उसका विरोध करते हैं, क्योंकि उनके पास विकास का मुद्दा रहता ही नहीं है। जाति के नाम पर, भाषा के नाम पर विभेद उत्पन्न करना राजनीतिक करने वालों का औजार रहा है। दक्षिण भारतीय भाषाओं में तत्सम एवं संस्कृत के शब्दों का बाहुल्य है। हिन्दी में भी तत्सम शब्दों की संख्या अधिक है। इस तरह से हम उत्तर और दक्षिण की भाषाओं के बीच की खाई को बहुत हद तक पाट सकते हैं। देश की एकता-अखंडता के लिए एक राष्ट्रीय भाषा का होना अत्यंत आवश्यक है। मातृभाषा का अपना स्थान है किन्तु राष्ट्र भाषा का अपना महत्व है। राष्ट्रभाषा कभी भी मातृभाषा के विरुद्ध खड़ी नहीं हो सकती।

हर भाषा अपने परिवेशगत आवश्यकताओं को पूर्ण करने में सक्षम है। हमारी चिंतन प्रक्रिया जहाँ से आरम्भ होती है, वहीं से भाषा अपना काम शुरू कर देती है। भाषा में एक विशेष सुगंध होती है जो हमें भीतर तक प्रभावित करती है। भाषा शब्द और अर्थ की सीमा से ऊपर उठकर विशेष विचार और भाव लक्षित करती है। वह साक्षात अथवा प्रकारांतर से मनुष्य की संस्कृति के अनुरूप उसको मनोभावों को अभिव्यक्त कर सकती है। भाषा केवल संप्रेषण का साधन नहीं होती, बल्कि यह किसी भी राष्ट्र की संस्कृति, सभ्यता, चिंतन और आत्मा का परिचायक भी होती है। हिन्दी इस दृष्टि से केवल भारतीय भाषाओं में एक नहीं है, बल्कि करोड़ों लोगों की मातृभाषा होने के साथ-साथ यह अब वैश्विक परिदृश्य में भी अपनी पहचान स्थापित कर चुकी है। आज विश्व की तीसरी सबसे अधिक बोली जाने वाली भाषा होने का गौरव हिन्दी को प्राप्त है। परंतु विडंबना यह है कि अपने ही देश में हिन्दी को वह स्थान नहीं मिल पाया है, जिसकी वह हकदार है। यह विरोधाभास हिन्दी की यात्रा को और भी रोचक एवं चिंतनशील बनाता है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के दशकों बाद भी भारत में हिन्दी को लेकर 'क, ख, ग क्षेत्र' का विभाजन बरकरार है। प्रशासन, न्यायपालिका, शिक्षा, चिकित्सा तथा तकनीकी क्षेत्रों में

अंग्रेजी का वर्चस्व आज भी कायम है। संसद में हिन्दी का प्रयोग बढ़ा है, किंतु उच्च स्तर के निर्णयों और बहसों में अंग्रेजी को ही प्राथमिकता दी जाती है।

यह प्रश्न बार-बार उभरता है कि यदि करोड़ों लोगों की मातृभाषा और सम्पर्क भाषा होते हुए भी हिन्दी अपने ही देश में सीमित दायरे में है, तो इसके लिए जिम्मेदार कौन है? शायद हमारी मानसिक गुलामी और अंग्रेजी को ही 'रोजगार व विज्ञान की भाषा' मानने की प्रवृत्ति। हिन्दी के विकास और प्रयोग हेतु वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग की स्थापना हुए 60 वर्ष हो चुके हैं। आयोग ने हजारों पारिभाषिक शब्दों का निर्माण किया, लेकिन वे व्यवहार में बहुत कम प्रयुक्त हो पाएं। कारण स्पष्ट है- हमारे शिक्षण संस्थानों और तकनीकी कार्यक्षेत्रों में अंग्रेजी की जकड़ इतनी गहरी है कि हिन्दी की नई शब्दावली को लोग अपनाने में हिचकते हैं। परिणामत : यह धारणा बन चुकी है कि अंग्रेजी के बिना विज्ञान, चिकित्सा और रोजगारपरक शिक्षा संभव नहीं। इस मानसिकता को बदलना अनिवार्य है।

वैश्विक मंच पर हिन्दी का सम्मान लगातार बढ़ रहा है। यूनेस्को द्वारा मान्य सात प्रमुख भाषाओं में हिन्दी का स्थान है। संयुक्त राष्ट्र महासभा में हिन्दी को आधिकारिक स्थान दिलाने के प्रयास जारी हैं। टोकियो विश्वविद्यालय के प्रोफेसर एमेरिट्स डॉ. तोषिओ तनाका का कथन उल्लेखनीय है- "महान भारत को सर्वांगीण रूप से जानने के लिए हिन्दी का ज्ञान आवश्यक है।"

आज विश्व के लगभग 48 देशों के विश्वविद्यालयों में हिन्दी पढ़ाई जा रही है। अमेरिका के 27 विश्वविद्यालयों में हिन्दी अध्यापन की व्यवस्था है। रूस में हिन्दी व्याकरण और साहित्य पर शोध हो रहे हैं। 2000 ई. में वॉशिंगटन विश्वविद्यालय द्वारा किए गए सर्वेक्षण ने माना कि हिन्दी विश्व की सर्वाधिक बोली जाने वाली भाषाओं में प्रमुख है।

हिन्दी के वैश्विक विस्तार में प्रवासी भारतीयों का योगदान असाधारण है। मॉरीशस, सूरीनाम, त्रिनिदाद, गयाना, फिजी, हांगकांग, थाईलैंड आदि देशों में हिन्दीभाषी समुदाय बड़ी संख्या में मौजूद है। ब्रिटेन, अमेरिका, नीदरलैंड, स्वीडन, डेनमार्क, जर्मनी और नार्वे जैसे देशों में भी प्रवासी समाज अपनी भाषा और संस्कृति को जीवित रखे हुए हैं। सूचना-प्रौद्योगिकी और संचार क्रांति ने इन्हें और अधिक जोड़ा है।

प्रवासी समाज केवल बोली-बातचीत में ही हिन्दी को नहीं बरतता, बल्कि हिन्दी साहित्य की रचना, पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन और सांस्कृतिक आयोजनों के माध्यम से इसे जीवंत भी बनाए हुए है।

जर्मनी, जापान, चीन और फ्रांस जैसे देशों के विद्वानों को यह देखकर आश्चर्य होता है कि भारत के महानगर अंग्रेजी और पाश्चात्य चमक-दमक में डूबे हैं किंतु जब वे भारत के

गाँवों और कस्बों से परिचित होते हैं, तब उन्हें हिन्दी की असली ताकत और प्रासंगिकता समझ में आती है। यही कारण है कि विदेशी शोधार्थी और विश्वविद्यालय हिन्दी को गंभीरता से अपनाते हैं।

भूमंडलीकरण अथवा वैश्वीकरण के दौर में हिन्दी ने शिक्षा और साहित्य से आगे बढ़कर बाजार और उपभोक्तावादी संस्कृति की भाषा का रूप ले लिया है। बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ विज्ञापनों और उपभोक्ताओं से संवाद के लिए हिन्दी का सहारा ले रही हैं। यह सच है कि यह दृष्टिकोण लाभ-केंद्रित है, परंतु इससे हिन्दी का प्रचार-प्रसार भी हुआ है। डिजिटल माध्यमों और मीडिया चैनलों ने हिन्दी को विश्व स्तर पर बाजार की प्रमुख भाषा के रूप में स्थापित कर दिया है।

हिन्दी की सबसे बड़ी विशेषता है इसका लचीलापन और शब्द-संपदा। हिन्दी भाषा में अन्य भाषाओं के शब्दों को आत्मसात करने की क्षमता अद्‌भुत है। यही लचीलापन इसे निरंतर विस्तार देता रहा है। पिछले पचास वर्षों में हिन्दी की शब्द-संपदा अन्य भाषाओं की तुलना में कहीं अधिक बढ़ी है।

यह विशेषता हिन्दी को संपर्क भाषा के रूप में और भी प्रभावी बनाती है। बड़ी संख्या में हिन्दी बोलने-समझने वाले लोग होने के कारण यह वैश्विक संवाद की सहज भाषा बन रही है।

साहित्य और अनुवाद का योगदान भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। भाषा की प्रतिष्ठा केवल मौखिक प्रयोग से नहीं, बल्कि साहित्यिक सृजन से भी बढ़ती है। हिन्दी में निरंतर उच्च कोटि का साहित्य रचा गया है-कविता, उपन्यास, कहानी, नाटक और आलोचना के क्षेत्र में इसकी समृद्ध परंपरा है।

साथ ही, अनुवाद की गुणवत्ता में वृद्धि ने हिन्दी को वैश्विक साहित्य की कोटि में स्थापित किया है। विश्व साहित्य की अनेक कृतियाँ हिन्दी में उपलब्ध हैं और हिन्दी साहित्य का भी अनुवाद विदेशी भाषाओं में हो रहा है।

आज भाषा और प्रौद्योगिकी का संगम भी किसी भाषा के विकास में अपरिहार्य है। आज के डिजिटल युग में हिन्दी के लिए नए अवसर खुल रहे हैं। 1956 में अमेरिका के जॉर्जटाउन विश्वविद्यालय में मशीन अनुवाद का प्रयोग हुआ था। आज कृत्रिम बुद्धिमत्ता (AI) और डिजिटल कम्प्यूटरों ने अनुवाद को सहज और सटीक बना दिया है। नासा के प्रख्यात वैज्ञानिक डॉ. आर. ब्रिग्स का मानना है कि भविष्य में कम्प्यूटर की भाषा देवनागरी लिपि में होगी।

यदि ऐसा होता है तो हिन्दी केवल साहित्य और संस्कृति की भाषा नहीं रहेगी, बल्कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी की भी अग्रणी भाषा होगी।

अब आवश्यकता है कि हम मानसिक गुलामी की बेड़ियाँ तोड़ें और हिन्दी को अपने देश में भी उसका योग्य स्थान दिलाएँ। जब तक हम स्वयं अपनी भाषा पर गर्व नहीं करेंगे, तब तक बाहरी सम्मान भी अधूरा लगेगा।

हिन्दी अब केवल साहित्य और शिक्षा की भाषा नहीं रही, बल्कि वैश्वीकरण के इस युग में यह बाजार, विज्ञान, तकनीक, कूटनीति और संस्कृति की भी भाषा बन चुकी है। विश्व के डेढ़ सौ से अधिक देशों में हिन्दी शिक्षण के केंद्र स्थापित हैं। प्रवासी समाज इसे जीवंत रखे हुए है और डिजिटल क्रांति ने इसे नई गति दी है।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हिन्दी केवल एक भाषा नहीं, बल्कि भारतीय अस्मिता और आत्मा की संवाहिका है। यदि हम इसे अपने ही देश में प्रशासन, विज्ञान और न्याय व्यवस्था में प्रतिष्ठित कर सकें, तो यह भाषा विश्व पटल पर और अधिक चमक बिखेर सकती है। हिन्दी का भविष्य उज्ज्वल है- बशर्ते हम इसे अपनाने का साहस दिखाएँ। सबकुछ के बाद भी मेरा यह मानना है कि हिन्दी राष्ट्रभाषा के रूप में अस्सी प्रतिशत अवतरित हो चुकी है। जन-मन की भाषा को किसी सरकारी मुहर की मोहताज नहीं रहना चाहिए। जिस दिन हम दक्षिण की भाषाओं का भी सम्मान करेंगे, उस दिन उन्हें भी हिन्दी को आत्मसात करने में कोई कठिनाई नहीं होगी। जब राजनेताओं में राष्ट्रीयता का भाव प्रबल होगा, विकास की राजनीति गति पकड़ेगी, उस दिन जाति, भाषा आदि का विभेद स्वतः मिट जाएगा।

शारदीय नवरात्र आरंभ हो चुका है। पटना में शारदीय नवरात्र का एक गौरवशाली इतिहास रहा है। यह धार्मिक, सांस्कृतिक उत्सव के रूप में प्रतिष्ठित रहा है। एक समय था जब देश के ख्यातिलब्ध कलाकार पटना से आमंत्रण आने की प्रतिक्षा करते रहते थे। यहाँ के पंडालों से जिन कलाकारों, शास्त्रीय गायकों की प्रस्तुति होती थी, वे देश में स्थापित कलाकार माने जाते थे। यह ठीक है कि उस संस्कृति का एक-दो दशकों से क्षरण हो गया है किन्तु फिर भी दुर्गा पूजा का महत्व अद्वितीय है। यह संस्कृति और परंपरा की गहराई को भी अपने भीतर संजोए हुए है। यहाँ की दुर्गा पूजा इसका सबसे जीवंत उदाहरण है। जब अश्विन मास की शारदीय नवमी का पर्व आता है, तो गंगा किनारे बसा यह नगर पूरी तरह एक सांस्कृतिक रंगभूमि में परिवर्तित हो जाता है। मंदिरों और पंडालों में गूँजती देवी-स्तुतियाँ, ढाक की थाप, शंखनाद और आरती की ध्वनि पूरे वातावरण को एक अलौकिक आभा से भर देती है। ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से पटना में दुर्गा पूजा का आरंभ औपनिवेशिक काल में हुआ माना जाता है। यही कारण है कि आज पटना की दुर्गा पूजा न केवल पूजा-अर्चना का अवसर है, बल्कि यह कला, शिल्प और संगीत का भी विशाल मंच है।

पंडाल और कलात्मकता पटना की दुर्गा पूजा की सबसे बड़ी विशेषता है। यहाँ के पंडालों की भव्यता और उनकी विषयवस्तु। हर वर्ष कलाकार और कारीगर विभिन्न विषयों पर पंडाल सजाते हैं- कभी अयोध्या का राम मंदिर, कभी कोई ऐतिहासिक स्थल, तो कभी आधुनिक भारत की झलक। स्थानीय कारीगरों के साथ-साथ पश्चिम बंगाल से आए शिल्पकार भी अपनी कला का प्रदर्शन करते हैं। इन पंडालों में प्रयुक्त सजावट, मिट्टी और बांस का संयोजन न केवल कारीगरों की सृजनशीलता को दर्शाता है, बल्कि स्थानीय रोजगार और हस्तकला को भी संबल देता है।

लोक-संगीत और नाट्य परंपरा : पटना की दुर्गा पूजा केवल दृश्य कला का उत्सव नहीं है; यह श्रव्य कला का भी भव्य संगम है। पूजा के दिनों में भजन, कीर्तन, जागरण और नृत्य-नाटिकाओं का आयोजन होता है। भोजपुरी, मगही और मैथिली लोकधुनों की गूँज पंडालों के वातावरण को और अधिक जीवंत बना देती है। कई स्थानों पर ''रामलीला'' और ''दुर्गा-चरित्र'' के मंचन होते हैं, जो लोकनाट्य परंपरा को पुनर्जीवित करते हैं।

सामुदायिकता और आधुनिक परिप्रेक्ष्य : पटना की दुर्गा पूजा केवल धार्मिक उत्सव भर नहीं है, यह सामुदायिक सहयोग का प्रतीक भी है। मोहल्लों और वार्डों में समितियाँ बनती हैं, लोग स्वेच्छा से श्रम और धन का योगदान देते हैं। महिलाएँ प्रसाद और अन्नकूट की तैयारी में भाग लेती हैं, जबकि युवा वर्ग प्रबंधन और सजावट का दायित्व संभालता है। इससे पीढ़ियों के बीच संवाद और सांस्कृतिक आदान-प्रदान संभव होता है।

आधुनिक समय में पटना की दुर्गा पूजा एक पर्यावरणीय चेतना का भी माध्यम बन रही है। कई पंडाल अब बायोडिग्रेडेबल सामग्री से तैयार किए जा रहे हैं और नदी प्रदूषण रोकने हेतु मिट्टी की प्रतिमाओं के विसर्जन पर बल दिया जा रहा है।

यह पर्व स्थानीय अर्थव्यवस्था के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। पूजा के दौरान हस्तकला, कपड़ा, मिठाई, खिलौने और प्रकाश सज्जा का बड़ा व्यापार होता है। पटना के बाजारों में चहल-पहल बढ़ जाती है। यह केवल धार्मिक नहीं बल्कि सांस्कृतिक-आर्थिक गतिविधि का भी केंद्र बन जाता है। पटना की दुर्गा पूजा धार्मिक श्रद्धा, सांस्कृतिक चेतना और सामाजिक सहभागिता का अद्‌भुत संगम है। यह पर्व परंपरा और आधुनिकता के बीच एक सेतु का कार्य करता है। एक ओर जहाँ यह लोकसंगीत, नाट्य और हस्तकला को जीवित रखता है, वहीं दूसरी ओर सामूहिकता और पर्यावरणीय जिम्मेदारी की भावना को भी प्रोत्साहित करता है। इसलिए, पटना की दुर्गा पूजा को केवल धार्मिक अनुष्ठान कहकर सीमित करना उचित नहीं होगा; यह तो नगर की सांस्कृतिक धड़कन है, जो हर वर्ष समाज को एकता, सृजनशीलता और नवचेतना का संदेश देती है।

साहित्य यात्रा' का यह अंक अनेक शोध आलेखों से सुसज्जित है। पिछला अंक हमने सुप्रसिद्ध बाल साहित्यकार श्री प्रकाश मनु पर केंद्रित कर प्रकाशित किया था, जिसकी प्रतिक्रिया

में कई पाठकों के स्नेहिल पत्र प्राप्त हुए, जिन्हें इस अंक में प्रकाशित किया गया है। इस अंक में ब्रज किशोर पाठक का आलेख 'आलोचनात्मक कद्रदानी', डॉ. बहादुर मिश्रा का आलेख 'चरित्रहीनः शरतचन्द्र का टेस्टिमोनियल या लिटमस पेपर', डॉ. सदानंद प्रसाद गुप्त का 'डॉ. शत्रुघ्न प्रसाद के ऐतिहासिक उपन्यास', डॉ. दीपा श्रीवास्तव का 'हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में हिन्दी की प्रमुख साहित्यिक पत्रिकाओं की भूमिका', राजेंद्र सिंह गहलौत का 'कहानी अपने प्रारंभ से अब तक', रामबाबू नीरव का 'हिन्दी साहित्य की समृद्धि में मुस्लिम कवियों का योगदान,' डॉ. अनुराधा शुक्ला का 'अमृत राय के कथा-साहित्य में जीवन-दर्शन', प्रोफेसर दिनेश प्रसाद सिंह का 'जन-मन के सहज शिल्पी : डॉ. रामदरश मिश्र', डॉ. मंजरी खरे का 'सीमा पार जनकपुर धाम', डॉ. अर्चना त्रिपाठी का 'भारतीय संस्कृति और हिंदी', प्रिया कुमारी का 'स्वतंत्र चेता के सर्जक : रामदरश मिश्र', तितिक्षा जी वसाव का 'एक सशक्त और कौतुकी नाटककार', सोना शर्मा का 'हिंदी बाल साहित्य का इतिहास एक रोचक और महत्वपूर्ण पुस्तक', बाबूलाल मीना का 'भारतीय रंगयात्रा में लोकनाट्य शैलियों का महत्व' आलेख प्रकाशित हैं।

इस अंक का विशेष आकर्षण वरिष्ठ आलोचक प्रो. सूर्य प्रसाद दीक्षित और यशस्वी नवगीतकार डॉ. बुद्धिनाथ मिश्र के साथ मेरी अंतरंग बातचीत है, जो निश्चित रूप से पाठकों के हृदय को स्पर्श करेगी।

इस अंक में सुधा गोयल की कहानी 'नैनं दहति पावकः' विशेष रूप से प्रकाशित की गई है। पुस्तक समीक्षा के अंतर्गत डॉ. करुणा पीटर 'कमल' ने डॉ. राजवर्धन आजाद की पुस्तक 'आयुष' की समीक्षा की है। इसके साथ अन्य महत्वपूर्ण स्तंभ भी प्रकाशित हैं। जो निश्चित रूप से पाठकों को पसंद आएंगे।

अशेष शुभकामनाओं के साथ।

कलानाथ मिश्र

साहित्य यात्रा का 'प्रकाश मनु' विशेषांक इन दिनों चर्चा में है। किसी भी विशेषांक का चर्चा में आना, आम बात है। तिस पर भी, जब यही विशेषांक किसी ऐसे साहित्यकार के अमृत वर्ष पूर्ण कर लेने पर केंद्रित हो।

तब यह विशेषांक चर्चा विशेष का कारण बनता है। यह विशेषांक प्रकाश मनु जी, जो इनका प्रचलित नाम है, वास्तविक यदि पूरा परिचय से कहें तो आप डॉक्टर प्रकाश मनु जी हैं, जिनका जीवन उतार-चढ़ाव से परिपूर्ण रहा। परंतु उनका व्यक्तित्व और कृतित्व भी उतना ही अनूठा बना, यह सच है कि ईश्वर यदि अपने साधकों को विघ्न बाधाएँ और दुविधाएँ देता है तो ऐसा करके वह उनके व्यक्तित्व और कृतित्व में निखार ही लाता है। इसका साक्षात् उदाहरण प्रकाश मनु जी पर केंद्रित यह विशेषांक है।

अब यहाँ बात संपादन की करना नितांत आवश्यक है। इस विशेषांक में साक्षात्कार, लेख, आलेख, पुस्तक विशेष आलेख या अन्य विधाओं पर अपना ध्यान केंद्रित करके उन्हें एक तारतम्य से प्रस्तुत किया है। विशेषांक में संपादक प्रोफेसर कलानाथ मिश्र की मेहनत, विशेषज्ञता और इन सब से ऊपर प्रतिबद्धता दिखलाई पड़ती है।

संपादकीय ही लिखना एक विशेष विशेषज्ञता का कार्य होता है। यूं भी संपादकीय प्रत्येक अंक या विशेषांक का एक आईना होता है या इसे हम खिड़की भी कह सकते हैं, जिसमें रचनाओं का संसार हिलोरें लेता है। संपादक प्रोफेसर कलानाथ मिश्र यही नहीं रुके हैं, संपादकीय लिखने के बाद उन्होंने एक लंबा-सा साक्षात्कार प्रकाश मनु जी से किया, जिसमें उनके सारे छुए अनछुए ऐसे पहलुओं को प्रस्तुत किया है, जिससे आज का युवा साहित्यकार, शोधार्थी, विद्यार्थी, अध्यापक और आमजन सभी प्रेरणा ले सकते हैं।

इतने सुंदर संपादकीय श्रम के लिए प्रोफेसर कलानाथ मिश्र को साधुवाद के साथ-साथ सादर प्रणाम करने का मन करता है।

सादर!

सूर्यकांत शर्मा
पूर्व वरिष्ठ अधिकारी एवं प्रसारणकर्मी
सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार।
मो. : 7982620596

हिन्दी की लोकप्रिय प्रतिष्ठित पत्रिका साहित्य-यात्रा हिन्दी के संरक्षण एवं संवर्धन की दिशा में सतत प्रयासरत है। अभी-अभी प्राप्त नवीनतम अंक वरिष्ठ कवि बाल साहित्यकार डॉ. प्रकाश मनु सर पर आधारित विशेषांक उत्कृष्ट एवं पठनीय तो है ही, संग्रहणीय भी है। यह मेरा सौभाग्य है कि मेरा भी एक आलेख इसमें प्रकाशित हुआ है।

जब किसी विशिष्ट साहित्यकार पर कोई कृति आती है तो जैसे इतिहास के पृष्ठ-दर-पृष्ठ खुलते चले जाते हैं। ऐसा ही इस विशेषांक को पढ़ते हुए महसूस हुआ कि हम आदरणीय प्रकाश मनु सर की जीवन यात्रा के सहभागी बनकर साथ-साथ चल रहे हैं। अनेक वरिष्ठ साहित्यकारों के अनुभव, संस्मरण और पुस्तक समीक्षाएँ भी इसमें शामिल हैं। यशस्वी संपादक आदरणीय कलानाथ मिश्र जी के कुशल संपादन में प्रकाशित यह पत्रिका साहित्य की अनेक विधाओं में अपना योगदान दे रही है।

डॉ. रामदरश मिश्र जहाँ लिखते हैं, 'डॉ. प्रकाश मनु : आत्मीयता का स्पंदन', वहीं दिविक रमेश, हरिपाल त्यागी, ब्रजेश कृष्ण, सूर्यनाथ सिंह आदि के संस्मरण हृदय को स्पर्श करते हैं। अनेक आलेख भी हैं - जिनमें गिरधर राठी, प्रियदर्शन, आरती स्मित, मो. अरशद खान, अशोक बैरागी आदि के आलेख शामिल हैं। मेरी पुस्तक समीक्षा भी है, 'भावों की पुण्य सलिला है प्रकाश मनु की रामकथा', जिसे लिखते समय मनु जी की लेखनी से निःसृत रामकथा अनेक रूपों में सामने आती रही थी।

नीलिमा करैया, सूर्यकांत शर्मा आदि की समीक्षाएँ एक अलग प्रभाव छोड़ती हैं। बालस्वरूप राही जी की सुंदर कविता इस विशेषांक की शोभा है। वहीं अमित कुमार की रचना 'हिन्दी बाल उपन्यासों के मौन नायक, डॉ. प्रकाश मनु जी' विशेष उल्लेखनीय लगी।

स्वयं प्रकाश मनु का एक सुंदर साक्षात्कार भी प्रकाशित है, जिसे पढ़कर बहुत कुछ अव्यक्त भी अभिव्यक्त हो उठता है, हमारी प्रेरणा बनकर। और इन सबमें सबसे सुंदर सार्थक और उल्लेखनीय लगा संपादकीय जिसकी उत्कृष्टता को व्यक्त करने के लिए शब्द नहीं हैं मेरे पास। आदरणीय मिश्र जी कहते हैं वस्तुतः बाल साहित्य रचने के लिए स्वयं बच्चा बनना पड़ता है, उनकी तरह सोचना पड़ता है। उन्होंने मनु सर की काव्य पंक्तियों का उल्लेख किया है -

हम हैं नन्हे वीर सिपाही
भारत देश विशाल के।
हमीं मुकुट हैं मणियों वाले,
इसके उज्ज्वल भाल के।

पत्रिका उत्तरोत्तर सृजन पथ पर आगे बढ़ती रहे, मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ हैं।

पद्मा मिश्रा

परम आदरणीय संपादक महोदय कलानाथ मिश्र जी,

आपके द्वारा संप्रेषित, वर्ष 10, अंक 42, अप्रैल जून 2025, 'साहित्य-यात्रा' का प्रकाश मनु विशेषांक प्राप्त हुआ। सर्वप्रथम पत्रिका हम तक पहुँचाने के लिए आपका तहेदिल से शुक्रिया।

पत्रिका से जुड़े समस्त विद्वज्जन को हमारा सादर प्रणाम। इस पत्रिका में इतने बड़े-बड़े विद्वान, प्रतिष्ठित एवं वरिष्ठ साहित्यकारों के मध्य बाबूजी के नाम से लिखा अपना भी एक संस्मरण व अपना नाम देखकर मन प्रसन्न हो गया। विश्वास करने में वक्त लगा। हमारी हैसियत सिर्फ एक पाठक की है। जो संस्मरण लिखा है, वह उनके काव्य-संग्रह को पढ़कर एक स्वतःस्फूर्त प्रतिक्रिया के स्वरूप, मन में आए हुए विचारों का सैलाब ही है।

इतना सरल हृदय व्यक्ति बाबूजी के सिवा हमने अब तक और कोई नहीं देखा। जिस किसी के लिए भी वे लिखते हैं, उसमें अपना दिल निकालकर रख देते हैं। आपको पढ़ना आश्चर्य चकित करता है।

बाबूजी के माध्यम से अनेक वरिष्ठ और प्रसिद्ध साहित्यकारों को हम इस तरह जान पाए मानो हम उन्हें शुरू से जानते रहे हों।

पूरी पत्रिका को एक नजर देखने के बाद मुख्य पृष्ठ पर लिखा हुआ 'विद्वत् परिषद् द्वारा समीक्षित पत्रिका' की सच्चाई महसूस हुई। वह बात अलग है कि हमारी साहित्यिक यात्रा अभी शुरू हुई है।

हमने संपादकीय पूरा पढ़ा, क्योंकि संपादकीय सर्वप्रथम पढ़ना तबसे आदत रही, जब से पढ़ना शुरू किया। सालों साल हमने भी 'चंदा मामा', 'नंदन', 'पराग', 'पंचतंत्र' की कहानियाँ, रामायण की कहानियाँ महाभारत की कहानियाँ, जातक कथाएँ, वीर बालकों की कहानियाँ, 'धर्मयुग', 'साप्ताहिक हिंदुस्तान', 'सरिता', 'कादंबिनी' ही सब पढ़ा। पढ़-पढ़कर बड़े हुए। 'नंदन' तो हमने दसवीं तक पढ़ी।

आपके संपादकीय को पढ़ते हुए अपने बचपन में खो गए। वह समय ऐसा था कि पारिवारिक संस्कार और स्कूली शिक्षक चरित्र गढ़ा करते थे। सिर्फ इतना ही नहीं था, इन पत्र-पत्रिकाओं को पढ़ते हुए शिक्षाप्रद जो भी मिलता था, उसको सीखा करते थे, जीवन में अपनाया करते थे। पढ़ना सिर्फ पढ़ने के लिए नहीं होता था। पढ़ना वास्तव में जीवन-निर्माण की प्रक्रिया होती थी।

अभी हमने 'साहित्य-यात्रा' का यह भव्य विशेषांक पूरा नहीं पढ़ा, लेकिन जैसे-जैसे वक्त मिलेगा पढ़ेंगे।

आपके साक्षात्कार की प्रश्नोत्तरी से बाबूजी को और भी अधिक जान पाए। उनकी साधना एक तपस्वी की साधना की तरह है। हृदय भी उतना ही निर्मल, कोमल और सृजनशील।

आप सहित संपादकीय मंडल के समस्त आदरणीय सज्जनों को हमारा सादर प्रणाम।

'साहित्य-यात्रा' में हमको भी स्थान देने के लिए एक बार पुनः तहेदिल से संपादक मंडल का धन्यवाद।

नीलिमा करैया
नर्मदापुरम् (म.प्र.)
मो. : 7400979716

वरिष्ठ लेखक और बाल साहित्यकार प्रकाश मनु की 75वीं वर्षगाँठ के अवसर पर त्रैमासिक 'साहित्य यात्रा' का 'प्रकाश मनु विशेषांक' (अप्रैल-जून, 2025) पाठकों के लिए एक यादगार उपहार की तरह है।

पत्रिका के संपादक कलानाथ मिश्र द्वारा प्रकाश मनु से की गई लंबी आत्मीय बातचीत पढ़ते हुए हम मनु जी के जीवन और रचना-यात्रा के महत्त्वपूर्ण पड़ावों को गहराई से महसूस कर सकते हैं। रामदरश मिश्र, हरिपाल त्यागी, देवेन्द्र कुमार, दिविक रमेश, ब्रजेश कृष्ण, सूर्यनाथ सिंह, रमेश तैलंग, प्रेमपाल शर्मा और शकुंतला कालरा के अंतरंग संस्मरणों में हम मनु जी को एक संवेदनशील रचनाकार, सहृदय मित्र, विश्वसनीय हमराही के रूप में देख-समझ सकते हैं।

गिरधर राठी, सविता मिश्र, प्रियदर्शन, आरती स्मित, मो. अरशद खान, अशोक वैरागी, सूर्यकांत शर्मा, मंजुरानी जैन, सुरेश्वर त्रिपाठी, रमाशंकर भारती, पद्मा मिश्रा, नीलिमा करैया, अभिषेक मिश्र और अमित कुमार के आलेख हमें मनु जी की कविताओं, कहानियों, उपन्यासों, नाटकों आदि के विविध पात्रों, उनके सामाजिक संघर्षों, जीवन-मूल्यों और चारित्रिक विशेषताओं से रू-ब-रू कराते हैं।

'प्रकाश मनु के लिए एक कविता' लिखते हुए बालस्वरूप राही को 'मानसरोवर के हंस' की याद आती है। मनु जी का रचनात्मक व्यक्तित्व और राही जी का स्नेहिल आशीष कविता में महक उठता है : 'सुबह, शाम, दिन-रात सिर्फ- लिखने में ही खोए रहते/ मानसरोवर में रचना के/ शुभ्र हंस जैसे बहते।/ जगमग रहें निरंतर जग भर/ में रचनाएँ छा जाएँ/ मनोकामना यही हमारी/ अमर, अमिट यश पा जाएँ।'

सतत साधना और संघर्षों से सुंदर होती प्रकाश मनु की दुनिया को 'साहित्य यात्रा' के 'प्रकाश मनु विशेषांक' की रचनाओं में सहज ही देखा जा सकता है।

श्याम सुशील

मनु मन और सृजन की उज्ज्वल रोशनी से जगमग अंक

बाल मन को कला, कल्पना, सृजन और चारित्रिक दृष्टि से संस्कारित करने का कार्य बाल साहित्य करता है और ऐसे सार्थक साहित्य सृजन का मानक हैं, वरिष्ठ एवं प्रतिष्ठित साहित्य सेवी प्रकाश मनु और प्रकाश मनु के साहित्य का मुकम्मल विश्लेषण करता है, 'साहित्य यात्रा' का यह प्रकाश मनु विशेषांक।

जी हाँ, अभी कुछ ही दिन पूर्व कलानाथ मिश्र के संपादन में आया अंक मिला पूरे मनोयोग से पढ़ा। पढ़कर बहुत अच्छा लगा कि इस अंक ने प्रतिभावान व्यक्तित्व के धनी प्रकाश मनु और उनके विशाल सृजन संसार को बड़ी कुशलता के साथ पाठकों के सामने रखा है।

संपादकीय में कलानाथ मिश्र जी ने बाल साहित्य संबंधी अपनी वैचारिक दृष्टि को स्पष्ट किया है, वही मनु जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से संबंधित अनछुए पहलुओं को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इनके द्वारा लिया गया साक्षात्कार तो इस पत्रिका का प्रमुख आकर्षण है, जिसमें संपादक महोदय ने विभिन्न प्रश्नों के माध्यम से उन बारीक, वस्तुनिष्ठ और तथ्यों को उजागर करवाया है, जो एक लेखक की साहित्यिक यात्रा में बेहद खास भूमिका निभाते हैं। वह प्रसंग बेशक विज्ञान विषय छोड़कर एम. ए. हिंदी की तरफ आने का हो, लेखक बनने की उत्कट इच्छा का हो, अधकू की कहानी वाला हो और विश्वविद्यालय के प्रोफेसर से भिड़ने का हो या फिर शैलेश मटियानी, रामदरश मिश्र, रामविलास शर्मा, विष्णु खरे और देवेंद्र सत्यार्थी सरीखे गुरुओं के बताए सहज-सरल मार्ग पर चलकर निरंतर संघर्ष की प्रेरणा का हो। इन तमाम तथ्यों को बड़ी सहज संवेदना से स्पष्ट किया गया है। बल्कि अपने प्रश्न कौशल से कहलवाया है।

कविता, कहानी, उपन्यास और नाटक आदि की सृजन यात्रा, इनसे जुड़ी रचनात्मक प्रक्रिया एवं लेखककीय तनाव को भी मनु जी ने बड़े रोचक अंदाज में साझा किया है। एक प्रश्न के माध्यम से मनु जी की काव्य यात्रा की एक बानगी देखिए, ''तब मैं साहित्य की दुनिया का अनाड़ी यात्री था कुछ कच्चा और बौडम भी। पर दिल में उत्साह था और शब्दों में सच्चाई। वही मुझे आगे, आगे और आगे ले जा रही थी। गहरे, गहरे और गहरे में शब्दों के जरिए और-और गहरे तल तक जाने की कोशिश करता था, ताकि शब्दों के जरिए पूरी मार्मिकता और बेधकता के साथ सच कह सकूँ, जो मेरे भीतर हलचल मचा रहा है। मगर उन दिनों साहित्य माने कविता, कविता और कविता ही थी...।''

विभिन्न आलेखों और संस्मरणों में सह-यात्रियों ने स्नेह की ऊष्मा और आत्मीयता संबंधों की प्रगाढ़ता और मनु जी के कला कौशल को अपने कोमल भावों में मनको की तरह

पिरोया है। कभी भी विस्मृति न होने वाली स्मृतियों में पुनः ताजगी भरी है। 'प्रकाश मनु : आत्मीयता का स्पंदन' में वरिष्ठ साहित्यकार रामदरश मिश्र जी मनु जी के व्यक्तित्व एवं स्वभाव के कई रोचक पहलुओं को बड़े ही भावपूर्ण ढ़ंग से उजागर करते हैं कि, ''प्रकाश मनु एक ईमानदार लेखक हैं। वे जिस तरह औरों की रचनाओं पर अपनी बेबाक राय देते हैं, उसी तरह अपनी रचनाओं पर बेबाक राय सुनकर बुरा नहीं मानते, बल्कि कुछ सीखते हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि उस गोष्ठी में अपनी कविताओं के बारे में लोगों की कटु आलोचना सुनकर बुरा नहीं माना होगा... ।''

देवेंद्र कुमार मनु जी में 'आदमी कुछ अलग सा' देखते हैं, बल्कि महामानव की छवि देखते हैं। मनु जी की सहज भावुकता, परस्पर स्नेह-सहयोग, अपनों से पूर्व दूसरों का हितचिंतन करना जैसे अनेक विलक्षण चारित्रिक गुण उन्हें औरों से अलग एवं ऊपर उठाते हैं। अगले ही कदम पर दिविक रमेश जी मनु जी को 'सतत परिश्रम और संकल्प की सच्ची प्रतिमूर्ति' बताते हैं। साहित्य को ही ओढ़ने-बिछाने और उसी के लिए जीने-मरने का सुदृढ़ संकल्प इन्हें हृदय की उच्च सिंहासन पर विराजमान करता है। ब्रजेश कृष्ण ने मनु जी के साथ मिलकर 'मित्रता की लंबी पगडंडियों और रास्ते' नापे हैं। ये बताते हैं कि घर-परिवार, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में शोध के दौरान, फिर सुनीता जी से प्रेम विवाह और पत्रकारिता में प्राण सोख लेने वाला संघर्ष आदि उन दिनों की हजार दिक्कतों और त्रासद स्थितियों के बावजूद भी कभी हार नहीं मानी। जीवन व साहित्य को जीने का उनका अपना ही अलहदा अंदाज है। एकदम बच्चों की सी हंसी की खिलखिलाहट और उनके निष्कपट व्यवहार की अनुगूँजों को बृजेश कृष्ण जी ने बड़ी आत्मीयता से महसूस किया है।

बाल स्वरूप राही की कविता 'मानसरोवर के हंस' तो बेहद अनूठी है, जो एक साथ मनु जी मृदुल एवं सौम्य व्यवहार और उनके गरिमामयी लेखन सृजन, साहित्यिक सरोकारों और शुभ्र हंस से उज्ज्वल व्यक्तित्व को बड़ी सहजता से समझाती है।

अगर मैं आलेखों की बात करूँ तो गिरधर राठी मनु जी के जीवन और लेखन में 'सदाशय पारदर्शिता' को पाते हैं। वहीं पर सविता मिश्र मनु जी की कविताओं का बहुत सम्यक विश्लेषण करती हैं। वे कवि के दायित्व बोध को भी जानती हैं और भाव भाषा एवं शैली की सशक्त अभिव्यक्ति को भी पहचानती हैं। सविता मिश्र मनु जी की कविताओं में 'उजास भरी जिंदगी के सपने' खोजने का सार्थक प्रयास करती हैं। ये सपने ही भावी समय और समाज का जीवंत बिम्ब हैं। सविता मिश्र जी लिखती हैं, ''प्रकाश मनु की कविताओं में समय की अनुगूँजे व्याप्त हैं। ऐसा परिदृश्य भी है, जो नितांत सच है और हमारी संवेदना को भीतर तक झकझोर कर रख देता है। सघन बिम्बों और प्रतीकों के सहारे कवि अपनी इन कविताओं में पूरी शिद्दत के साथ समसामयिक विसंगतियों से टकराता है, जूझता है।''

आरती स्मित मनु जी के बाल कथा कहानी, उपन्यास आदि के कथारस और किस्सागोई को विस्तार से विश्लेषित करती हैं। इन रचनाओं में समाहित भाव, भाषा, शैली और

संदेश को बड़ी कलात्मकता से पाठकों के सामने रखती हैं। बाल सखा प्रकाश मनु का रचना वैविध्य बड़ा ही अनुपम और मनोरम है। कहीं-कहीं स्वयं मनु जी बाल या बुजुर्ग पात्र रूप में उपस्थित रहते हैं। यहाँ मनु जी सख्यधर्म निभाते हुए बच्चों को सद्मार्ग और बेहतर जीवन जीने की कला सिखाते हैं। 'उजली हंसी के कथाकार' मोहम्मद अरशद खाँ मनु जी की प्रतिनिधि एवं प्रिय कहानियों के उद्धरण देकर यह तथ्य सामने रखते हैं कि मनु जी बचपन की हंसी खुशी और खिलखिलाहट को सहेजने वाले बच्चों के प्रिय कथाकार हैं।

मनु जी के नाटकों का कैनवस बहुत ही विस्तृत और विविधता भरा है। ये बच्चों को खेल-खेल में अच्छी सीख देने के साथ-साथ बच्चों को खूब हंसाते, गुदगुदाते और रिझाते हैं। नाटक तो बच्चों के मन का, उनके जीवन का सबसे प्रिय उत्सव है। अभिनव और रंगमंच की दृष्टि से ये बहुत ही महत्वपूर्ण नाटक है। मनु जी मंच सज्जा, पात्र-संवाद, भाषा, दृश्य और भाव-भंगिमाओं आदि को बड़ी गंभीरता से सामने रखकर प्रयोगधर्मी नाटकों का सृजन करते हैं। अनेक नाटकों की सांगोपांग समीक्षा करते हुए बैरागी जी लिखते हैं, ''बच्चों की दुनिया के आस-पास बुने गए ये नाटक बाल अंतर्मन की भीतरी तहों को खोलते हैं, तो साथ ही उनकी उलझनें सुलझाकर एक सीख भी दे जाते हैं।... मनु जी यह प्रयास करते हैं कि बच्चे अपने आस-पास की दुनिया के दुख-दर्द और परेशानियों को जाने और उनके मन में भी यह विचार आए कि आखिर एक सुंदर दुनिया बनाने के लिए वे भी तो कुछ कर सकते हैं। कुछ प्रयोगात्मक नाटक तो बहुत ही बेहतरीन और लाजवाब है।''

मनु जी केवल बाल साहित्य तक सीमित नहीं उन्होंने रामकथा को भी आधुनिक संदर्भ में बहुत ही सरस और भावपूर्ण ढंग से लिखा है। इसके माध्यम से एक सकारात्मक सोच और नवीन ऊर्जा का संचार होता है। पाठक अलग तरह की संवेदना और वैचारिकता को महसूस करता है। इन्हीं भावों को सूर्यकांत शर्मा 'बहुत अनूठी और रसमय है, प्रकाश मनु की रामकथा' शीर्षक से पाठकों के सामने रखते हैं। श्रेष्ठ संस्कृति और आदर्श समाज की स्थापना के लिए आधुनिक संदर्भों में रामराज्य की अवधारणा को स्मरण कराती है, यह रचना। 'मेरे मन्नू भाई उर्फ प्रकाश मनु' संस्मरण में रमेश तैलंग मनु जी के व्यक्तित्व एवं स्वभाव और शैलेश मटियानी देवेंद्र सत्यार्थी जी जैसे महान रचनाकारों से स्नेह संबंध को उजागर करते हैं। इस संस्मरण की सबसे अच्छी बात यह है कि रमेश जी स्वयं बहुत सी बातों, साक्षात्कारों और यात्राओं में सहभोक्ता रहे हैं। एक मित्र ने दूसरे मित्र को जिस बेबाकी से सबके सामने रखा है, ऐसा आपका कोई अपना बहुत निजी ही कर सकता है। मनु जी जहाँ 'साहित्यिक धुनी' के रूप में दिखाई देते हैं, वहीं कुछ 'अतिवादी व्यक्ति' भी नजर आते हैं।

प्रेमपाल जी 'साहित्य अमृत' में मनु जी के साथ जिए क्षणों को, उनकी संपादकीय श्रम, निष्ठा, अनुशासन, लगन, साहित्यिक संवेदना और सांस्कृतिक मूल्यों के दायित्व बोध को दिखाते हैं। संपादन में प्रूफ रीडिंग और रचना चयन आदि के प्रत्येक कार्य को बड़ा महत्व देते थे और जब तक रचना पूरी तरह मन माफिक नहीं बन जाती तब तक उसमें जुटे रहते हैं। प्रेमपाल जी लिखते हैं, ''प्रूफ और मैटर की सेटिंग तो छोड़ो, पत्रिका का कवर (मुख पृष्ठ) जब तक उनकी

नजर में खरा न उतरता, तब तक उसमें संशोधन और बदलाव करवाते, इशारे से ही बता देते कि यहाँ थोड़ा लाइट कलर रखें तो कैसा रहे। हमारे सीनियर आर्टिस्ट मनोज गुप्ता जी उनकी हर बात, हर सुझाव पर गौर करते। मनु सर के सानिध्य में हमारी पूरी टीम ऊर्जा से लबालब रहती।''

जिंदगी को मायने देने वाली मर्मस्पर्शी कहानियाँ' (मंजूरानी जैन) मनु जी की अद्‌भुत किस्सागोई, पात्रों की संवेदना, सहज शैली, उनकी भाषा और विषयों की विविधता को स्पष्ट करता बेहतरीन आलेख है। बिल्कुल अलग और अनौपचारिक अंदाज में लिखी मनु जी की कविता और कहानियाँ अपने समय और समाज का जीवंत बिम्ब हैं। जीवन में अनेक संभावनाओं को तलाशती ये कविताएँ हाशिये पर पड़े अलक्षित एवं उपेक्षित जन-जीवन की त्रासदी को केंद्र में रखकर विमर्श के लिए आमंत्रित करती हैं। कविताओं से जुड़ा ऐसा ही एक और आलेख है, 'प्रकाश मनु की कविताएँ : संभावनाओं का नया आकाश'। इसमें सुरेश्वर त्रिपाठी ने मनु मन और काव्य सृजन में डूबकर लिखा है। इसके साथ ही 'लोक के आलोक में स्नात मनु का मन' (डॉ. रामशंकर भारती), 'भावों की पुण्य सलिला है प्रकाश मनु की रामकथा (पद्‌मा मिश्रा), 'संवेदनाओं की स्याही से लिखी प्रकाश मनु की मर्मस्पर्शी कविताएँ'- संस्मरण (नीलिमा करैया), 'हम उनसे इतना प्रकाश ले सकते हैं कि हमारी आत्माएँ जगमगा उठेंगी' (अभिषेक मिश्र) और शोधार्थी अमित कुमार का आलेख 'हिंदी बाल उपन्यासों के मौन नायक व साधक प्रकाश मनु जी', इस विशेषांक को बेहतरीन, रोचक और पठनीय बनाने में बड़ी संजीदगी से अपनी भूमिका निभाते हैं।

पर मैं अपनी इस टिप्पणी के माध्यम से आदरणीय कलानाथ मिश्र जी सहित संपादकीय टीम का ध्यान इस ओर दिलाना चाहूँगा कि इस मुकम्मल विशेषांक के केंद्र में निस्संदेह प्रकाश मनु जी हैं, फिर भी, मनु जी द्वारा रचित कोई कहानी, आत्मकथांश, उपन्यासांश, संस्मरण, बाल नाटक, बाल कहानी साहित्य सृजन से जुड़ा आलेख भी सम्मिलित होता, तो पाठकों के लिए विशेष प्रसाद की तरह होता। इस अंक को जब अपने एक मित्र को पढ़ने के लिए दिया तो उसकी बात मुझे बड़ी खली कि, ''एक साक्षात्कार को छोड़कर आलेख और संस्मरण के सिवा इसमें तीसरी चीज कौन सी है।'' यद्यपि उन्होंने संस्मरण और आलेखों की विविधता एवं सारगर्भिता की प्रशंसा भी खूब की। खैर, इसके बावजूद भी 'साहित्य यात्रा' का यह विशेषांक अपने आप में बहुत सुन्दर और पठनीय है बल्कि प्रकाश मनु के साहित्य विश्लेषण को लेकर एक बड़ी उपलब्धि है। यह अंक प्रकाश मनु मन और सृजन की उज्ज्वल रोशनी को पाने का सफल प्रयास है। इस गरिमामयी संयोजन के लिए संपादक सहित आपकी पूरी टीम और सभी सहभागी सृजकों को हृदय की अनंत गहराइयों से बधाई एवं साधुवाद।

डॉ. अशोक बैरागी, साहित्यकार
मो. : 9466549394

✧ ✧ ✧

आलोचनात्मक कद्रदानी

ब्रज किशोर पाठक

डॉ. बेचन का अध्ययन क्षेत्र जितना व्यापक और विशाल है उतनी ही सूक्ष्म उनकी आलोचनात्मक दृष्टि है। हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत, बंग्ला और अंग्रेजी के साहित्य और आलोचना के मूल्य मानकों का अध्ययन कर उन्होंने पचाया भी है। लेखक का संकेत है कि आलोचना के माध्यम से जनवादी कलाकारों को अपने शिल्प को उन्नत करने की जरूरत है। समसामयिक विषयों पर रचित होने के कारण किसी रचना पर सस्तापन का विशेषण भले चस्पाँ किया जाए, पर उसमें यदि स्वाभाविक अभिव्यक्ति की संवेदना और गहराई हो तो वह साहित्य का सुन्दर उदाहरण हो सकता है। लेखक जनभाषा को अपनाने और लोकभाषा को साहित्य में अपनाने-किंवा महत्त्व देने का आग्रही है। अनेक आलेखों की विभिन्न भंगिमाओं में इस पर बल दिया गया है।

डॉ. बेचन समग्र भाग-1 के संदर्भ में अपने वक्तव्य में मैंने उल्लेख किया था कि किसी ग्रंथ के पुनर्प्रकाशन के संपादक की भूमिका प्रायः 'नहीं' के बराबर होती है। उसी को दुहराते हुए यह कहना है कि यह भूमिका प्रूफ रीडिंग तक सीमित है क्योंकि इस क्रम में मूल पुस्तक की सामग्री में किसी संशोधन, परिवर्धन की गुंजाइश नहीं होती। हाँ, प्रथम प्रकाशन में टंकण की अशुद्धि रह गई हो, तो उसे सुधारा जा सकता है। वर्तमान पुनर्प्रकाशन में मेरी भूमिका इसी सीमा के अंतर्गत है।

अकबर इलाहाबादी का एक शेर है : ''हुजूमे-बुलबुल हुआ चमन में किया जो गुल ने जमाल पैदा। कमी नहीं कद्रदाँ की अकबर, करे जो कोई जन कमाल पैदा।'' अधीती साहित्य आलोचक डॉ. बेचन की विशिष्टता इस तथ्य में है कि जो ख्याति-प्राप्त साहित्यिक हस्ताक्षर हैं उनके साथ ही वे सुदूर उपेक्षित पड़े फूलों और निर्जन में आलोक विकीर्ण कर चुपचाप बुझ जाने वाले दीपों की भी अभ्यर्थना करने में गौरव का अनुभव करते हैं। यह उनकी जर्रानवाजी और नीर क्षीर विवेक का परिचायक है।

''बेचन समग्र भाग-2'' में अधीती साहित्य समालोचक डॉ. बेचन, जो सन् 2004 में ही ब्रह्मलीन हो चुके हैं - की दो पुस्तकें - 'अध्ययन के विचार' और 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी' साहित्य को समाहित किया गया है। इन

पुस्तकों में सम्मिलित किए गए विभिन्न आलेख गत शताब्दी के प्रायः पचास और साठ के दशकों में लिखे गए। तब से अबतक यानी इक्कीसवीं शताब्दी के बीस वाले दशक तक साहित्य एवं आलोचना के मानकों में परिवर्तन हुए, कुछ मानक अमान्य किए गए, कुछ मानक पुनः परिभाषित किए गए जबकि कुछ नये मानक स्थापित हुए। परन्तु वर्तमान पुस्तकों में संदर्भ तिथियों को छोड़ दिया जाए तो अधिकांश आलेखों का महत्त्व आज भी यथावत् है और विश्वास किया जा सकता है कि आने वाले वर्षों में भी ऐसा ही रहेगा क्योंकि इनमें उद्घाटित मूल्य प्रायः शाश्वत हैं।

इन पुस्तकों में संकलित आलेखों के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि डॉ. बेचन का अध्ययन क्षेत्र जितना व्यापक और विशाल है उतनी ही सूक्ष्म उनकी आलोचनात्मक दृष्टि है। हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत, बंग्ला और अंग्रेजी के साहित्य और आलोचना के मूल्य मानकों का अध्ययन कर उन्होंने पचाया भी है। रचना समग्र में सन्निहित उद्धरणों की भरमार इस तथ्य की पुष्टि करती है।

रचना समग्र के इस भाग की पहली पुस्तक में डॉ. बेचन के लेखकीय वक्तव्य में स्पष्ट किया गया है - ''मेरे पाठक हृदय ने जब जो कुछ, जिसे माना है, मैंने लिखा है।.... मैं युग सत्य पर विश्वास करता हूँ।'' लेखक के अनुसार शेली, गोर्की ने भी ऐसी रचनाएँ जनता की आँखें खोलने के लिए की हैं और हिन्दी साहित्य का इतिहास भी बतलाता है कि भारतेन्दु युग की सामाजिक व्यवस्था और विक्टोरिया की घोषणा से संबंधित रचनाएँ भी समकालीन हैं, पर उनका मूल्य आज भी आँका जाता है। यही बात डॉ. बेचन की स्थापना पर भी लागू होती है। लेखक का संकेत है कि आलोचना के माध्यम से जनवादी कलाकारों को अपने शिल्प को उन्नत करने की जरूरत है। समसामयिक विषयों पर रचित होने के कारण किसी रचना पर सस्तापन का विशेषण भले चस्पाँ किया जाए, पर उसमें यदि स्वाभाविक अभिव्यक्ति की संवेदना और गहराई हो तो वह साहित्य का सुन्दर उदाहरण हो सकता है। लेखक जनभाषा को अपनाने और लोकभाषा को साहित्य में अपनाने-किंवा महत्त्व देने का आग्रही है। अनेक आलेखों की विभिन्न भंगिमाओं में इस पर बल दिया गया है।

'हिन्दी उपन्यास साहित्य' शीर्षक निबंध में तबतक लिखित पांक्तेय उपन्यासों का उल्लेख और यत्किंचित समीक्षा की गई है। प्रेमचंद को हिंदी उपन्यासों का पथ-निर्माता मानते हुए यह विचार व्यक्त किया गया है कि उनके उपन्यासों में विरल एपिक गुण हैं। अन्य आलोचकों की तुलना में लेखक डॉ. शिवदान सिंह चौहान की आलोचनात्मक दृष्टि और स्थापनाओं का अधिक कायल है। लेखक की चिंता यह भी है कि प्रेमचंद-सरीखा उपन्यासकार फिर हिंदी साहित्य के पटल पर उभर क्यों नहीं रहा है? फिर भी लेखक का मानना है कि प्रेमचंद की औपन्यासिक कला को आगे बढ़ाने की दिशा में बिहार के ही दो रचनाकारों - फणीश्वरनाथ रेणु (परती : परिकथा, मैला आँचल) और नागार्जुन (बलचनमा, बाबा बटेसर नाथ) को किंचित् सफलता मिली। जिन अन्य उपन्यासकारों का उल्लेख लेखक द्वारा किया गया है उनमें जैनेन्द्र कुमार, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, भगवती चरण वर्मा, यशपाल, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी भी हैं पर उनमें वह उत्कर्ष नहीं जो प्रेमचंद में है। लेखक रेणु और नागार्जुन की औपन्यासिक कला पर मुग्ध हैं।

इस पुस्तक के अन्य उपखंड हैं - नये औपन्यासिक मूल्य, प्रयोगवादी कविताएँ, प्रतिवाद विचार और विवेचन, पन्त की काव्यात्मक नीरसता, नारी चरित्र और औपन्यासिक प्रेरणा, हिंदी कविता और नये कवि रूप, हिन्दी साहित्य का नया कदम, प्रगति और प्रयोग, प्रयोगशीलता और अश्लीलता, युद्धोत्तर हिन्दी साहित्य, प्रसिद्धि का रहस्य इत्यादि। इन सभी उपखंडों में लेखक की स्थापनाएँ शीर्षक के अनुरूप तर्काश्रित एवं बेबाक हैं।

नागार्जुन की शैली में घनत्व के संदर्भ में लेखक की स्थापना है कि घनत्व सायास लाया नहीं गया है, विद्वता के बल पर घनत्व लाने का प्रयास नहीं किया गया है, वरन् आत्मानुभवों के आधार पर उन्हें बनी-बनाई मिलती है और भाषा उन्हें गढ़नी नहीं पड़ती। उन्होंने अपेक्षाकृत कम ख्यातिप्राप्त उपन्यासकार जैनेन्द्र कुमार जैन के उपन्यास ''उद्भ्रान्त'' का उल्लेख किंचित विस्तर से किया है। इस उपन्यास में स्थापना अंततः यह है कि समाज में भौतिक उपकरणों की शृंखला भिन्नता के कारण ही सामान्य मनुष्य चोर, डाकू, लोभी, क्रूर और अपराधी बनता है। लेखक के अनुसार, उपन्यास की अन्य स्थापना यह भी है कि साहित्य मनोरंजन का साधन होने के अतिरिक्त, पाठक को सही जीवन-दृष्टि देता है और कोई भी रचना तभी शुद्ध साहित्यिक रचना बन पाती है जब वह युग-जीवन की अभिव्यक्ति पूर्णता में करे। लेखक की दृष्टि में 'उद्भ्रान्त' औपन्यासिक शिल्प की दृष्टि से प्रथम श्रेणी के उपन्यासों को छूता है।

लेखक की उल्लेखनीय विशिष्टिता है कि वह अपने परिवेश-भागलपुर तथा आसपास के क्षेत्र में साहित्य रचना में सन्नद्ध साहित्यकारों के प्रति अत्यंत उदार एवं संवेदनशील है। इस क्षेत्र के उदीयमान प्रतिभाओं को प्रकाश में लाने की दिशा में लेखक की दृष्टि आग्रहशील है। ऐसे नवोदित लेखकों को उनका समादर एवं संवेदन मिलता है जिनकी यत्किंचित प्रकाशित रचनाओं में उन्हें संभावना दृष्टिगोचर हुई है। लेखक साहित्य में सामाजिक एवं मानवीय संवेदना का आग्रही है।

लेखक के अतिरिक्त, पुस्तक में एक आलेख श्री बदरी नारायण सिन्हा आई.पी.एस. का है, जिन्होंने लेखक, डॉ. बेचन एवं उनके रचना धर्म के विषय में विस्तार के उल्लेख किया है। इस आलेख में डॉ. बेचन के साहित्य का यथातथ्य मूल्यांकन तो है ही, पर उसी से श्री सिन्हा के साहित्यिक बोध भी मिलता है। उनसे तथा उनकी साहित्यिक रचनात्मकता के विषय में लेखक के एकाधिक आलेख भी इस पुस्तक में है। ''मैना के उलझ गए डैना'' का विश्लेषण करते हुए लेखक ने उनकी प्रतिभा का दर्शन कराया है।

भारत-चीन युद्ध (1962) के तत्काल बाद दिनकर द्वारा 'परशुराम की प्रतीक्षा' की रचना की गई थी, जिसकी लोकप्रियता असंदिग्ध है। तत्कालीन राजनेताओं की जो भूमिका उस युद्ध के दौरान रही, जिसके चलते इस देश की प्रतिष्ठा बुरी तरह प्रभावित हुई, की बखिया इस पुस्तक में उधेड़ी गई है पर ऐसा करने के क्रम में दिनकर ने परशुराम के रूप में ऐसे अधिनायक का महिमा मंडन किया है जो अवश्य ही लोगों को सम्मोहित करता है पर जिसके खतरे भी हैं। साहित्य सेवी हरि कुंज के आवास पर लेखक के अतिरिकत बंगला साहित्यकार वनफूल की उपस्थिति में दिनकर और इस रचना के संदर्भ में लेखक की दृष्टि अनुकूल है पर अन्य स्थलों पर उसमें निहित खतरों की ओर संकेत देने में भी लेखक नहीं चूकता।

पटना में वर्ष 1955 में हुए गोलीकांड को भी लेखक ने उठाया जो उनकी जन सामान्य के प्रति जागरूक दृष्टि का परिचायक है। प्रशासन द्वारा किए गए ऐसे गोलीकांड की अधिकांश बुद्धिजीवियों और संवेदनशील साहित्यकारों ने भर्त्सना की, उसके संदर्भ में सामयिक रचनाएँ की परन्तु अनेक सम्मानित रचनाकारों ने मौन धारण कर रखा, जिसे लेखक ने संवेदनहीनता माना है।

इस बात को दुहराने की आवश्यकता नहीं कि लेखक भागलपुर एवं इसके निकटवर्ती क्षेत्रों में रचना कार्य में लगे साहित्यकारों के प्रति विशेष आग्रहशील है; भले ही भागलपुर में चिकित्सा व्यवसाय में लगे बंगला साहित्यकार बलाईचंद्र मुखोपाध्याय (वनफूल) हो या सुदूर दक्षिण से बिहार आकर मंदार की तलहटी में निरंतर हिन्दी साहित्य-साधना में निरत आचार्य आनंद शंकर माधवन हों। इन दोनों तथा इनकी रचनाओं के संदर्भ में एकाधिक आलेख वर्तमान पुस्तक में श्रद्धा-सहित समाहित किए गए हैं। ''अनामंत्रित मेहमान'' तथा ''दीपाराधना'' इन दो पुस्तकों का स्मरण एकाधिक स्थलों पर किया गया है। ये दोनों पुस्तकें आचार्य आनंद शंकर माधवन की साहित्य साधना के शीर्ष बिंदु हैं। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक अल्पख्यात लेखकों में पुरुषेन्द्र, बारिद, उमाशंकर वर्मा आदि की चर्चा लेखक ने विस्तार से की है। प्रसिद्ध गीतकार नेपाली का उल्लेख भी, जिनकी दयनीय आर्थिक विपन्नता की स्थिति में भागलपुर में ही मृत्यु हो गई के विषय में भी इस पुस्तक में संवेदना और सम्मान सहित उल्लेख किया गया है। इन लेखनों के सूक्ष्म अवलोकनों से लेखक की दृष्टि की विशालता स्पष्ट है।

पुस्तक के ''नये लोग : नया साहित्य'' उप खंड में लेखक ने उन साहित्यकारों तथा उनकी रचनाओं में निहित गुण-दोष के आधार पर उनका विश्लेषण किया है जो अबतक हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में स्थापित नहीं हो सके थे। लेखक को वैसे अधिकांश साहित्यकारों में प्रतिभा के उन्मेष दृष्टिगत हुए थे, अतः पाठक-वर्ग के समक्ष नवोदित किंवा उदीयमान प्रतिभाओं को प्रकाश में लाने के लिए संवेदना और अंतरंगता से उनका यथोचित उल्लेख किया गया है। उन साहित्यकारों में बदरी नारायण सिन्हा और आनंद शंकर माधवन के अतिरिक्त नाटककार मुकुल, वारिद, उमाशंकर वर्मा (जिनकी अकाल मृत्यु तथाकथित सड़क दुर्घटना में हुई अथवा जो तंत्र विशेष की साजिश के शिकार हुए), यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र, पुरुषेन्द्र, रामचंद्र सिंह, श्याम सुंदर घोष शामिल हैं। इन सभी के संबंध में लेखक द्वारा अलग-अलग आलेख प्रस्तुत दिए गए हैं। इनके अवलोकन से स्पष्ट होगा कि लेखक की दृष्टि और आलोचनात्मक अभिव्यक्ति, नपी तुली, सारगर्भित और गुण-दोष पर आधारित है। जगह-जगह लेखक सामाजिक विपर्ययों और प्रशासनिक ढकोसलों के संदर्भ में चुटीले व्यंग्य-बाण बरसाता नजर आता है।

ब्रज किशोर पाठक, 103, प्रीतिका अपार्टमेंट, उत्तरी शास्त्री नगर, पटना-800014
मो. : 9431417700, 9771478302

✧ ✧ ✧

वरिष्ठ साहित्यकार सूर्यप्रसाद दीक्षित से साहित्य-यात्रा के संपादक कलानाथ मिश्र की बातचीत

सूर्यप्रसाद दीक्षित जी लखनऊ विश्वविद्यालय में हिन्दी और आधुनिक भाषा विभाग के पूर्व अध्यक्ष रहे हैं। इन्होंने छायावादी गद्य पर बहुत ही विशद कार्य किया है। इन्होंने व्यावहारिक सौंदर्य शास्त्र पर भी गंभीर काम किया और इसी विषय पर डी लिट भी किया है। वर्तमान में दीक्षित जी राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा के अध्यक्ष हैं एवं भाषा और साहित्य के विकास के लिए प्रतिबद्ध रहे हैं। दीक्षित जी ने कई पुस्तकों का प्रणयन कर हिन्दी साहित्य को समृद्ध बनाया है। 'हिन्दी साहित्य इतिहास की भूमिका' पर दीक्षित जी ने काम किया है। इन्होंने सूक्ति सुधा एवं विश्व पटल पर हिन्दी में भी बहुत गंभीर कार्य किया है, जिसपर काफी चर्चा हुई है। निराला समग्र, संचार भाषा और हिन्दी, प्रसाद समग्र, सेनापति और

मिश्रबंधु, ब्रज संस्कृति, विश्व कोश की रचना कर हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया है।

कलानाथ मिश्र- आदरणीय दीक्षित जी। मैं जानना चाहता हूँ कि आपकी साहित्य यात्रा की शुरुआत किस रूप में और कैसे हुई? आपके साहित्य सृजन के प्रेरणा स्त्रोत कौन रहे?

दीक्षित जी- मिश्र जी, साहित्य से नाता तो बहुत पुराना है। जब माध्यमिक कक्षा में आया तो आस-पास के वातावरण से प्रेरित होकर कविता लिखने का शौक हुआ। कुछ साहित्य स्नेही मंडल और पत्रिकाओं को पढ़ते-पढ़ते, लोगों की समस्या को देखते हुए कविता लिखना शुरू किया। जब विश्वविद्यालय में पहुँचा तो मुझे लगा कि कविता से बौद्धिक चिंतन नहीं हो पाता है। आवश्यकता है अच्छे अंकों से परीक्षा उत्तीर्ण करने की। कविता पढ़-पढ़कर ज्ञान लेता रहा, काव्य सृजन बंद कर दिया। एम.ए. के बाद एक शोधार्थी के रूप में पी.एच.डी. में प्रवेश हुआ। उस समय के अपने अध्यापकों से प्रेरित होकर, कुछ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेख समालोचना आदि से प्रभावित होकर मैंने छायावादी गद्य की खोज की। मैंने ये देखा कि छायावादी गद्य की जो प्रवृत्ति है, वह क्या विधा विशेष तक सीमित रहेगी? जैसे प्रकृतिवाद, प्रतीकवाद कविता के साथ-साथ आलोचना में भी मिलता हैं, कथा साहित्य में भी मिलता है, तो छायावाद में क्यों नहीं मिल सकता?

कलानाथ मिश्र- छायावाद पर नए रूप में आपने बहुत सूक्ष्म और विषद लेखन किया है। छायावाद के सौ वर्ष पूरे होने पर आपने इसे नई दृष्टि से देखने का प्रयास किया। हिन्दी साहित्य में आजकल जिसकी बहुत चर्चा हो रही है। मैं चाहूँगा कि आप छायावाद पर प्रकाश डालें।

दीक्षित जी- मैंने ये पाया कि छायावाद का सही अर्थ हिन्दी जगत में लोकप्रिय नहीं हुआ। लोगों ने इसे रहस्यवाद या स्वछंदतावाद का पर्यायवाची मान लिया। जहाँ प्रेम सौंदर्य का वर्णन है, प्रकृति का चित्रण है, वेदना ज्यादा मुखर होकर व्यक्त हुई है, वह सब छायावाद है। वस्तुतः ये छायावाद के अंर्तवस्तु और उसके बिंब हैं। छायावाद में मुख्यतः छाया शब्द पर विचार करना होगा। यह शब्द मुकुटधर पांडेय का दिया हुआ नहीं है। आनंदवर्धन का ध्वन्यालोक से निकला हुआ है। उनके अनुसार, ध्वनि काव्य का महत्वपूर्ण तत्व है, जो काव्य में एक विशिष्ट और अर्थपूर्ण प्रभाव उत्पन्न करता है। वे कहते हैं कि जैसे एक राजवंशी स्त्री के मुखमंडल पर विशेष रूप से कपोल स्थल पर एक छाया आ जाती है, जो स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं होती, उसकी एक छाया प्रकट होती है। वस्तुतः जो परिभाषित हो, उसका छायांतर शेड ही छायावाद है। जिसको 'शैडो वर्ल्ड' कहा गया है। जिसमें प्रकट रूप से अभिधा में कोई बात नहीं आती है। उसमें बातें लक्षणा और व्यंजना के माध्यम से आती है। अगर कहीं गद्य का वर्णन किया है तो गद्य की छाया को पकड़ा है। ऐसे पंचतत्वों के माध्यम से इस नई शैली को उन्होंने जन्म दिया था। इस कारण द्विवेदी युग की कविता ज्यादा गद्यात्मक थी। कविता के पीछे की वक्रता के लिए स्थान होना चाहिए। इसलिए कहते हैं कि काव्य कला है।

कलानाथ मिश्र- भाषा का अपना एक सौंदर्य होता है, इसमें एक सुगंध होती है, जो लोकोक्तियों,

मुहावरों और भावपूर्ण शैली के माध्यम से अभिव्यक्त होता है और वही छायावाद है। दीक्षित जी निराला और प्रसाद को आपने समग्र रूप से देखने का प्रयास किया है। इस क्रम में आपने निराला और प्रसाद की रचनाओं में स्वाधीनता आंदोलन के प्रभाव को किस रूप में रेखांकित किया है?

दीक्षित जी- मिश्र जी, यह बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न है। देखिए, प्रसाद जी स्वतंत्रता आंदोलन से प्रत्यक्ष रूप से तो नहीं जुड़े थे, लेकिन अपने नाटकों के माध्यम से अतीत का गौरवगान करते हुए वे भारतीयता का प्रचार बराबर करते थे। उदाहरण के लिए आप चंद्रगुप्त नाटक में देखें। इस नाटक के सारे पात्र राष्ट्र की रक्षा के लिए तटस्थ दिखाई देते हैं।

'हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती

स्वयं प्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती'

कविता में गोरे से लड़ते हुए स्कंद और गुप्त परिवार अपनी राष्ट्रीयता की रक्षा करते हैं। उसका यशो विस्तार कालिदास या मातृगुप्त जैसे पात्रों के माध्यम से करते हैं। प्रसाद जी कहते हैं :-

'हिमालय के आँगन में उसे, किरणों का दे उपहार

उषा ने हँस अभिनंदन किया, और पहनाया हीरक हार।'

भारत का पाँच हजार वर्ष का इतिहास है। उसमें गौतम बुद्ध का भी उल्लेख है और राम का भी उल्लेख है। प्रसाद जी इन सबको इतिहास की वस्तु बनाते हुए आर्यवर्त का जय-जयकार करते हैं। हमें आर्यवर्त की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा देते हैं। उनके अनुसार सिकंदर यहाँ आकर पराजित होकर गया था, सेल्यूकस की पुत्री का चंद्रगुप्त से विवाह हुआ था। इस प्रकार भारत का चारों तरफ विस्तार हुआ था। इससे राष्ट्र का स्वाभिमान जागृत हुआ था। इसके द्वारा उन्होंने समाज सुधार की योजना बनाई। इसपर आधारित उनकी कई कहानियाँ और उपन्यास हैं। ज्यादातर ऐतिहासिक हैं। कुछ सामाजिक घटनाओं पर भी आधारित है। इसमें समाज के विघटन की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए यथार्थ के बजाय आदर्श की ओर अग्रसर होते दिखाई देते हैं। स्वतंत्रता आंदोलन के पोषक तत्वों में नवजागरण के भाव तीव्र थे। उस समय स्वतंत्रता आंदोलन बहुत तीव्रता के साथ नहीं चल रहा था।

निराला जी थोड़े से इससे भिन्न हैं। निराला जी इस आंदोलन से जुड़े भी रहे। निराला जी की 'कुल्ली भाट' उपन्यास में स्पष्ट दिखता है कि उन्होंने गाँव में किसानों का आंदोलन शुरू किया। उन्होंने जमींदार के शोषण के विरुद्ध किसानों को संगठित करके झंडा गीत गाते हुए आंदोलन को सक्रिय किया। इस दौरान उन्हें थाने की कारवाई से भी गुजरना पड़ा। बाद में निराला जी पर गाँधीवाद का प्रभाव पड़ा। उन्हें लगा कि कांग्रेस की आजादी की लड़ाई बाहरी स्वतंत्रता की लड़ाई है। उस बाहरी स्वतंत्रता से आंतरिक स्वतंत्रता की लड़ाई ज्यादा जरूरी है। अपने एक संस्मरण में निराला जी ने कहा है कि जब राजनीतिज्ञों ने एक आवाज दी कि

साहित्यकारों को राजनीतिज्ञों का साथ देना चाहिए तो ये बात उनके गले नहीं उतरी। वे बोले कि सरस्वती किसी की दासी नहीं हो सकती और वे अपने ढंग से वैचारिक स्तर पर आजादी की लड़ाई लड़े। लेकिन गाँधीवादी राजनीति से, खासकर असहयोग, अशांति और अहिंसा से दूर रहे। वे बंगाल से होकर आए थे, तो उनमें आत्मबलिदान का भाव था। उन्हें ऐसा लग रहा था कि नेताओं द्वारा प्राप्त आजादी आदर्श स्वतंत्रता नहीं हो सकती।

कलानाथ मिश्र- दीक्षित जी, आपने साहित्य में बहुआयामी रूप में काम किया है। छायावाद के साथ-साथ आपने रीतिकाल के महत्वपूर्ण कवियों पर भी काम किया है। आपने रीतिकाल और छायावाद की कलात्मकता पर एक दृष्टि दी है, उसकी विशेषता को उजागर किया है। मैं चाहता हूँ कि उसके संबंध में आप अपने विचार से हमें अवगत कराएं।

दीक्षित जी- जी, मुझे लगा कि रीतिकाल काव्यकला की दृष्टि से हिन्दी का स्वर्णकाल है। भक्तिकाल में एक खास तरह का परहेजी संस्कार है। आधुनिक कविता में जब आप प्रयोगवाद से गुजरते हैं तो इसमें प्रयोगवादिता हावी दिखाई देती है। आज की कविता किसी नैतिकता की समर्थक नहीं रही है।

रीतिकाल की कविता में दो दृष्टियाँ आपके सामने है, उनमें से आपको चुनना पड़ेगा। पहली बात ये है कि सारा-का-सारा युग रीतिकाल नहीं है। उस युग में संत काव्य रचा गया है, जिसको उत्तरवर्तीय मध्यकाल कहते हैं। जितने संत कवि भक्तिकाल में नहीं थे, उससे ज्यादा रीतिकाल में हैं, उससे ज्यादा सूफी कवि इसमें हैं। इस काल में भक्तिकाल से ज्यादा रामकाव्य और कृष्ण काव्य रचे गए हैं। इस तरह से इसमें भक्तिकाव्य का ही अनवरत प्रवाह दिखाई दे रहा है। दूसरे कुछ कवि ऐसे हैं, जो रीति परंपरा अर्थात् कवि लक्षण की जो परंपरा है, उससे जुड़े होते हैं। उसमें भी दो भेद है। एक दरबारी कवि हैं और दूसरे वे जो किसी दरबार के आश्रय में नहीं रहे, जो साहित्य प्रेमी हैं। वे बैठे-बैठे काव्य रचना कर रहे हैं। यह भ्रांति फैलाई गई कि सब-के-सब सामंती व्यक्ति हैं, दरबारी कवि हैं और राजा की संतुष्टि के लिए श्रृंगारपरक रचनाएँ कर रहे हैं। मैंने सर्वेक्षण किया और सर्वेक्षण के उपरांत निष्कर्ष निकला कि केवल साठ से पैंसठ कवि को ही दरबार सुलभ हुआ था, बाकि 200 से ज्यादा कवि दरबार तक पहुँच ही नहीं पाए या दरबार नहीं जाना चाहते थे, तो अनुपात के हिसाब से सबको आप दरबारी क्यों कहेंगे? उसमें ज्यादातर कवि किसान हैं, गाँव के रहनेवाले हैं और एकाध विरोध के भाव से रचना कर रहे थे, कुछ मनोरंजन और आत्मतोष के लिए भी रचना कर रहे थे। ये केवल नायक-नायिका भेद नहीं लिख रहे थे। ये उस समय के जनजीवन की व्यथा कथा भी लेकर आए थे। उस समय न जाने कितने ग्रंथ लिए गए, जिनको शालिहोत्र पर रखा गया था यानि हाथी-घोड़े की चिकित्सा प्रणाली। दरबारों में हाथी-घोड़े पाले जाते थे। उनके लक्षण क्या होते थे- कौन घोड़े की तरह तेज दौड़नेवाला होगा, कौन सीधा होगा, हाथी कैसा होगा? हमारे एक कविराज, जो बाद में दरबारों में जाकर राजकवि

बने। वे तो पहले वैद्य थे। उनकी उपयोगिता यह थी कि वे वैद्य और कवि दोनों की भूमिका निभा रहे थे। वे पशु चिकित्सा पर ग्रंथ लेकर आए थे। ये आयुर्वेद पर ग्रंथ लेकर आए थे। ये ज्योतिष के ग्रंथ लेकर आए थे। ये कर्मकांड के ग्रंथ लेकर आए थे। ये कृषि शास्त्र की चर्चा कर रहे थे। मुझे एक दर्जन काव्य मिले, जो बागवानी से संबंधित है, जो केवल पशु-पक्षियों पर लिखे गए। बागिचा कैसे लगाया जाता है? चिड़िया के क्या लक्षण हैं? कौन-सी चिड़िया पालने लायक है, उसे बीमारियों से कैसे बचना चाहिए? इत्यादि। इस प्रकार देशी चिकित्सा प्रणाली का वर्णन मिलता है।

सभासार, एक तरह की ऐसी शिक्षा जो सभा में बैठने का तरीका बताती है, तभी तो हम सभ्य कहलाते हैं। हुआ ये कि दरबारों में उन्हीं रचनाओं की इज्जत की गई, जो राजा को आनंदित करते हों, क्योंकि आश्रयदाता ही जीविका का साधन था। राजाश्रयी कवियों की ऐसी कृतियाँ बच गई, बाकि तो घरों के छप्परों में, बारिश और दीमकों की वजह से बर्बाद हो गईं।

कलानाथ मिश्र- कुछ लोग कहते हैं कि राजदरबार में राजाओं को उनके श्रवणेंद्रियों में कामोन्मुख रस घोलना अति प्रिय था।

दीक्षित जी- हाँ, उनको छव्यवर्धक दवाइयाँ, बलवर्धक दवाइयाँ, वीर्यवर्धक दवाइयाँ दी जाती थी। यही राजकवियों का काम था और वे वैसी ही रचना करते थे, जिससे राजा के मन में विचारोत्तेजना उत्पन्न हो। लेकिन जो लोग जनता से जुड़े हुए थे, जनोपयोगी साहित्य करते थे। ऐसी रचनाएँ बहुत कवित्वपूर्ण नहीं थे लेकिन उपयोगी साहित्य थे। इसे संयोग कहे या दुर्योग कि ऐसे साहित्य को संजोया नहीं जा सका, उसकी रक्षा नहीं की जा सकी। लोगों के घरों में कई पांडूलिपियाँ पाई जाती है लेकिन हमारे शासक उसके प्रति बहुत सचेत नहीं हैं। ऐसी हजारों की संख्या में पांडूलिपियाँ पड़ी हैं, जो संपादित या प्रकाशित नहीं हो पाई।

कलानाथ मिश्र- दीक्षित जी, नायिका भेद और नख-शिख वर्णन बहुत से लोगों के जिज्ञासा का विषय है। इसपर कुछ प्रकाश डालिए।

दीक्षित जी- इनमें आप देखेंगे कि नायिका भेद का जो वर्णन किया है, वे सब केवल विलासिनी ही नहीं है। रहीम का नायिका भेद पहला नायिका भेद माना जाता है। उसमें हर जाति का जो सामाजिक चरित्र है, उसका वर्णन है । यदि आप उससे अवगत हो जाएं, तो शायद जीवन में कभी धोखा नहीं होगा। इसमें कई तरह की नायिकाएँ हैं, कुछ सौंदर्य की नायिकाएँ हैं और कुछ मानविकाएँ हैं। उन सबके मानवीय चरित्र का मनोविज्ञान, उनके मानवशास्त्रीय अध्ययन इस नायिका भेद में किया गया। हिन्दी की एक और विशेषता है कि इन्होंने नायक भेद भी बनाए हैं। नायकों के भी भिन्न-भिन्न रूप हैं। इस तरह से मनुष्य के चरित्र को समझने-समझाने का बहुत प्रयास किया गया, जिसे बाद में मनोविज्ञान कहा गया। आज फ्रायड की चर्चा तो करते हैं लेकिन वे रचनाकार कहीं गुम हो गए।

कलानाथ मिश्र - ये तो आपने बहुत महत्वपूर्ण बात कही। दीक्षित जी, आप हिन्दी साहित्य में सौंदर्यवादी दृष्टिकोण से रचनाओं की आलोचना में किन समीक्षकों को रेखांकित करना चाहेंगे।

दीक्षित जी- मिश्र जी, हिन्दी में जो सौंदर्यशात्रीय अध्ययन हुए थे। वे मोटे तौर पर सात प्रकार के हैं। उनमें से एक सौंदर्य को कलाशास्त्र के रूप में देखते हैं, जो वासुदेव शरण अग्रवाल की परंपरा है। प्रस्तर विज्ञान एवं भौतिक विज्ञान में दिखाई देता है। जब वे अजंता अलोरा के चित्रों और खजुराहो के भित्ति-चित्रों का विवेचन करते हैं, तो वह सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि अलग है। दूसरे प्रकार के आचार्य रहे हैं, जो लालित्य तत्व को सौंदर्यशास्त्र मानते हैं। जैसे- हजारी प्रसाद द्विवेदी, कालिदास। लालित्य का तात्पर्य है-सौंदर्य का वर्णन अर्थात् सौंदर्य प्रसाधन। वह केवल प्रसाधन तक सीमित है, वह आगे नहीं जा सकता है। किस तरह के चूर्ण लगाते थे, कैसे केश सज्जा करते थे, कैसे-कैसे वस्त्र पहनते थे? तीसरे प्रकार के सौंदर्य शास्त्री थे, जो मिथकीय अध्ययन करते थे। जिसमें रमेश कुंतल मेघ पुराने चित्रों के माध्यम से मनुष्य के मिथकीय प्रतीकों को पकड़ने की कोशिश करते हैं। चौथे प्रकार के सौंदर्यशास्त्री रहे, जो काव्यशास्त्र के समानांतर चले, जिन्होंने सौंदर्य के चार भाग किए। जैसे डॉ. नगेंद्र कल्पना विधान, बिम्ब विधान, प्रतीक विधान, युग परंपरा, इसे सौंदर्यशास्त्र कहते हुए एक अलग रूप दे देते हैं। दरअसल, यह काव्यशास्त्र का ही विस्तार है, सौंदर्यशास्त्र नहीं है। सौंदर्यशास्त्र अध्ययन (एस्थेटिक स्टडी) नहीं है। एस्थेटिक का मतलब है, किसी रचनाकार के रचना प्रक्रिया में जो बिंब बनता है, उसका उद्देश्य क्या है? किस कारण प्रसाद जी ने हिमालय का ऐसा वर्णन किया है? किस कारण किसी व्यक्ति को समुद्र अति प्रिय है? किस कारण कोई संध्याकाल का ही वर्णन ज्यादा कर रहा है? इस प्रकार उसकी उत्पत्ति और प्रक्रिया को बदलना, उस मनोविज्ञान से जूझना है, जो उसके बिंब और चेतना में उभर आया है। वह एस्थेटिक स्टडी है। एस्थेटिक का अर्थ है- संवेदना। एस्थेटिक संवेदना को जगा देता है। भारतीय साहित्य में संवेदना को रूप, रस, गंध, स्पर्श, श्रवण आदि रूपों में देखा गया है। हमारी ज्ञानेंद्रिय ही संवेदना के काम आते हैं। हमें जो दिखाई देती है, उसके साथ-साथ जो स्पर्श का सुख होता है। स्वाद का सुख होता है, जो शब्दों का सुख होता है और रचना से जो स्वाद प्राप्त होता है। वही काव्यशास्त्र में रसास्वाद कहलाता है। दरअसल, व्यंजना ही व्यंजन का रूप ले लेता है। उसी तरह से गंध बोध, शब्द बोध यह सब उसी से आगे निकलता जाता है। जब कहा जाता है कि 'भावानुभाव संचारित' होती है, रस निष्पति होती है, तो जो आगमन और उद्दीपन विभाव है, वह मन को प्रेरित करती है। उसके साथ-साथ उसकी निष्पति होती है, उसका प्रकटन होता है और तब वह रस का रूप धारण कर लेता है। जितने हमारे काव्य संप्रदाय बने हैं- रस, रीति, अलंकार, वक्रोक्ति, ध्वनि, औचित्य। इसके अलावे पश्चिम के प्रभाव से काव्य के अन्य प्रकार जैसे बिंबवाद, प्रतीकवाद भी इसी से प्रकट होते हैं। ये मुख्य संवेदना के बीज हैं, रस भी एक संवेदना है, उसको रसानुभूति कहते हैं। सुख हो, दुख हो, जिसे संचारी भाव कहा जाता है, सब संवेदना से ही जुड़े हुए हैं।

कलानाथ मिश्र- अब हम थोड़ा भाषा की ओर रूख करेंगे। संचार भाषा के रूप में हिन्दी की भूमिका के निर्वहन को लेकर आपके विचार क्या हैं? किस हद तक इसमें प्रगति हुई? चूँकि आपने इसपर विषद कार्य किया है, तो आप इसे किस रूप में लेते हैं?

दीक्षित जी- दरअसल, मैंने यह देखा कि आजकल किसी भी भाषा की सार्थकता उसके संप्रेषण की क्षमता पर निर्भर करती है। हिन्दी यदि आज लोकप्रिय हुई है तो उसका सबसे बड़ा कारण यह है कि यह बहुत ही सहजगम्य है। सरलतापूर्वक समझ में आ जाती है और उसके माध्यम से आप जैसा चाहते हैं, वैसा अभिव्यक्त करने में सक्षम होते हैं। हालाँकि मनुष्य की सोची हुई सारी-सारी बातें अभिव्यक्त नहीं हो पाती। कोई भी भाषा इतनी समर्थ नहीं होती है। भाषिक मनोविज्ञान की चर्चा करनेवाले कहते हैं कि हमारी सोची हुई बातें केवल अस्सी प्रतिशत ही अभिव्यक्त हो पाती हैं, बीस प्रतिशत कहीं गुम हो जाती है। चाहे भाषा का कितना ही समर्थ व्यक्ति क्यों न हो। जितनी अनुभूति प्रबल होती है उतनी अभिव्यक्ति प्रबल नहीं होती। इसलिए भाषा की क्षमता इसपर निर्भर है कि उसकी संप्रेषण शक्ति कितनी है? उस हिसाब से हिन्दी का विकास हुआ और यह पाया कि जितने हमारे संचार माध्यम हैं- जैसे- समाचार पत्र, पत्र-पत्रिकाएँ, रेडियो, दूरदर्शन, सोशल मीडिया इनमें उपयुक्त हिन्दी के शब्द भंडार कितने हैं? निष्कर्ष यह निकला कि जिस भाषा के जितने भाषा-भाषी होते हैं, उसकी संवेदना उतनी ही तीव्र होती है। जैसे- होमियोपैथी दवाई को जितना मिलाया जाता है, उसकी क्षमता उतनी बढ़ती जाती है। उसी तरह एक शब्द जितने मुखों से होकर गुजरता है, उसकी संवेदना शक्ति उतनी प्रबल हो जाती है। इस हिसाब से हिन्दी बहुत समृद्ध भाषा है।

रेडियो की भाषा का अपना निजी चरित्र है। रेडियो वार्ता देते समय हमें यह ध्यान देना पड़ता है कि रेडियो में उपर्युक्त और निम्नलिखित शब्द नहीं होता है, इसका प्रयोग नहीं किया जाता है। रेडियो की अपनी आचार संहिता है। वे कहते हैं कि नकारात्मक वाक्य नहीं होना चाहिए। आप कहेंगे कि आज बैठक नहीं होगी। इसके जगह लिखना होगा- बैठक स्थगित हो गई है। सकारात्मक बनिए, संसदीय भाषा का प्रयोग कीजिए। ऐसे ही लंबा वाक्य, संयुक्त वाक्य, मिश्र वाक्य नहीं बनाइए, बहुत कठिन शब्दों का प्रयोग नहीं कीजिए। छोटे-छोटे वाक्यों की रचना कीजिए। ज्यादा आँकड़े और तिथियाँ न दीजिए। दूरदर्शन की भी अपनी एक भाषा है। उसमें दृश्यात्मकता ज्यादा होती है। जब शब्द दृश्यात्मक हो जाए तब उसकी सार्थकता ज्यादा बनती है। मीडिया के अनुसार, जो भाषा गठित हुई है, जिसका अधिकाधिक प्रयोग होना चाहिए, वह संचार भाषा है। हिन्दी को कम्यूनिकेटिव लैग्वेज (संचारी भाषा) की कसौटी पर परखने की कोशिश की गई है कि इसमें विश्व भाषाओं के कितने शब्द लिए गए। इसपर विचार करना महत्वपूर्ण है।

कलानाथ मिश्र- दीक्षित जी, आपकी एक महत्वपूर्ण पुस्तक भी है 'विश्व पटल पर हिन्दी'। आप

आज हिन्दी को वैश्विक रूप में कैसे देखते हैं?

दीक्षित जी- दरअसल, मुझे विश्व को तीन कोटियों में बाँटना पड़ा। एक में नेपाल, तिब्बत, वर्मा, अफगानिस्तान जैसे हमारे पड़ोसी देश हैं। इसमें पाकिस्तान भी आता है। पहले यह समूची संस्कृति थी, बाद में थोड़ी अलग हुई। दूसरे देश हैं, जहाँ हमारे भारतवंशी हैं, जो गिरमिटिया बनकर डेढ सौ वर्ष पहले गए थे। वहाँ देखिए, कहीं चालिस तो कहीं पचपन प्रतिशत हिन्दी भाषी हैं। वहाँ कई पत्र-पत्रिकाएँ, संस्थाएँ और बड़े-बड़े लेखक हुए। अलग-अलग देशों में हिन्दी को अलग-अलग नामों से जाना जाता है। इसे मॉरीशसवाले मॉरीशसियन हिन्दी, फिजीवाले फिजियन हिन्दी, सूरीनामवाले सूरीनामिक हिन्दी कहते हैं, किन्तु सभी हिन्दी के ही समूह हैं। तीसरे वे देश हैं, जहाँ हमारे भाई-बंधु बहुत बड़ी मात्रा में प्रवासी भारतीय के रूप में रहते हैं। लगभग सात-आठ करोड़ भारतीय विभिन्न देशों में रह रहें हैं। वे वहाँ के स्थानीय भाषा से प्रभावित होकर अपनी परिषद् बनाकर संगठित भाव से हिन्दी में रचना कर रहे हैं। इन तीनों साहित्यों को मिलाकर एक कर दीजिए, तो विश्व हिन्दी बन जाती है। अब कुछ बाहर के लोग पढ़ने के लिए भारत आ रहे हैं। इसी तरह अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय के अंतर्गत कई लोगों ने हिन्दी में काम किया है। जैसे तस्वलोस्की ने भारत में पहली बार आकर बताया कि वाल्मीकि रामायण और रामचरित मानस में अंतर है। उससे पहले लोग उसे अनुवाद मानते थे। ग्रियर्सन ने एक बड़ा सर्वेक्षण कर हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा और तुलसीदास को स्थापित किया। फादर कामिल बुल्के भारत आए और हिन्दी में ऐसे रमे कि हिन्दी-अंग्रेजी का एक वृहत् शब्दकोश बना डाला। इतना ही नहीं फादर कामिल ने रामकथा पर एक वृहत् शोधकार्य भी कर डाला। इन लोगों ने विदेश में रहते हुए हिन्दी में काम किया है। इस प्रकार ये भी हिन्दी परिवार के ही अंग हैं। इन सबको मिलाकर जो साहित्य बनता है, वह विश्व हिन्दी साहित्य कहलाता है।

कलानाथ मिश्र- दीक्षित जी, आपने पत्रकारिता के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण काम किया है। आपने उत्कर्ष, उद्भव, ज्ञानशिखा, शोध, साहित्य भारती, प्रभास आदि अनेक खोजी और महत्वपूर्ण पत्रिकाओं का संपादन किया है। एक संपादक के रूप में आप वर्तमान साहित्यिक पत्रिकाओं के समक्ष किस प्रकार की कठिनाइयों और त्रुटियों को देखते हैं और उसके समाधान के दिशा में आपके क्या सुझाव हैं? मैं भी साहित्य यात्रा का प्रकाशन और संपादन कर रहा हूँ। यह साहित्यिक शोध पत्रिका है। हमें कई बार अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। उसके संबंध में आपसे यह जानना चाहता हूँ कि ऐसी पत्रिकाओं के संपादन और साहित्यिक पत्रकारिता करने के उपरांत आपने किन चुनौतियों का सामना किया और उनका क्या समाधान निकाला। उसके संबंध में आपके क्या दृष्टिकोण हैं?

दीक्षित जी- दरअसल, आप यह महसूस करेंगे कि साहित्य का विकास मुख्यतः संपादकों और पत्रकारों के द्वारा हुआ है। हिन्दी गद्य के आरंभिक काल में महावीर प्रसाद द्विवेदी न होते, सरस्वती

न होती, तो आप अनुमान लगा सकते हैं कि हिन्दी की खड़ी बोली की क्या दशा होती? उसी प्रकार, बाबू शिवपूजन सहाय की जो भूमिका थी, मतवाला में निराला जी की जो भूमिका थी, इन सबने काव्य, नाटक, कहानी और उपन्यास लिखते हुए साहित्यिक पत्रकारिता भी की और हिन्दी में ऐसी पत्र-पत्रिकाएँ भी निकाली, जिन्होंने सर्वांगीण ज्ञान का विकास पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से किया। कहते हैं सरस्वती के लगभग दस करोड़ पाठक थे और निराला के मतवाला की ऐसी स्थिति थी कि जिस दिन उसके प्रकाशन का दिन निश्चित होता था, उस दिन लोग प्रेस को घेरकर खड़े हो जाते थे कि कहीं ऐसा न हो कि सारी प्रतियाँ बिक जाए और उन्हें खाली हाथ लौटना पड़े। देवकीनंदन खत्री जो जासूसी उपन्यास लिख रहे थे। उनकी दैनिक पत्र बनारस से धारावाहिक निकलती थी। उनकी रचना की एक खास विशेषता थी। उसे पढ़ने के क्रम में लोग भूल जाते थे कि स्नान-ध्यान और भोजन क्या होता है? इतनी पाठकीयता और गूढ़ ग्राहकता थी। लेकिन ठीक उसके विपरीत आप स्वयं एक पत्रिका का संपादन कर रहे हैं। आप खुद भुक्तभोगी होंगे। यह एक जूनून है कि आप उसके पीछे लगे हुए हैं। अब सबसे बड़ी चिंता की बात यह है कि आप पत्रिका छापे, पैसे अपने घर से लगावें, रचनाएँ खुद तैयार करें, संपादित करें, संशोधित करें और पत्रिका रचनाकारों को भेज भी दें। विडंबना यह है कि आप जिसको भेज देते हैं, वह एक टेलीफोन तक नहीं करता कि आपकी पत्रिका मिली हैं और मुझे बहुत अच्छी लगी है या हमने उसे पढ़ा है। आप चाहे कि उच्च स्तरीय रचनाएँ मिल जाए, जैसे कि आप शोध पत्रिका निकाल रहे हैं, तो उसमें शोध के प्रारुप में दो-चार-छह अच्छे लेख मिल जाए, तो समझिए कि आपकी पत्रकारिता सफल हो गई। आज पठनीयता समाप्त हो गई है, साहित्य की भावना ना के बराबर है, बस सारी भूमिकाएँ आपको निभानी है। बस पूर्व का दंड है, जो प्रायश्चित के रूप में पत्रिका निकल रहा है। इसलिए मैंने बार-बार शुरू किया और बार-बार बंद किया। यह सिलसिला यूँ ही चल रहा है।

कलानाथ मिश्र- आप प्रयाग हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष हैं और उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान से भी जुड़े रहे हैं। हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में इन संस्थानों की क्या भूमिका रही है? इसपर आप विस्तार से प्रकाश डालिए।

दीक्षित जी- देखिए मिश्र जी, काशी नागरी प्रचारिणी सबसे पुरानी संस्था है। उसी ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन को जन्म दिया है। आज यह संस्था एक सौ पंद्रह वर्ष की हुई। आपका यह बिहार हिन्दी सम्मेलन एक सौ छह वर्ष का हो गया। ऐसे ही अलग-अलग राज्यों की राजधानियों में या बड़े नगरों में कई संस्थाएँ खुली। सम्मेलन के ही प्रयास से वर्धा राजभाषा प्रचार समिति खुली। इन दोनों के प्रयास से चेन्नई में हिन्दी प्रचार समिति, जो बाद में दक्षिण भारत हिन्दी विश्वविद्यालय बना। अब वह चार नगरों में विकसित है। इनकी भूमिका नवजागरण ने ली। इनके माध्यम से बहुत अच्छा पुस्तकालय चलता था। इनकी अपनी परीक्षाएँ थीं। हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग से प्रारंभिक शिक्षा, मध्यमा और उत्तमा कहलाती थी। जो विशारद कर लेता था उसके नाम के आगे विशारद लिखा जाता था। जैसे आज पी.एच.डी. कर लेने से नाम के आगे

डॉक्टरेट शब्द लिखा जाता है। सम्मेलन की ऐसी बारह शाखाएँ थीं-बिहार, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, दक्षिण में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की संस्था स्थापित हुई। हिन्दी के विकास के लिए राष्ट्रभाषा प्रचार समिति गाँधी जी के माध्यम से खोली गई थी। हिन्दी के विकास में राजेंद्र बाबू, टंडन, सुभाष चंद्र बोस, जवाहरलाल नेहरू, काका कालेलकर, गंगाराम बजाज, माखनलाल चर्तुवेदी लगे हुए थे। उस समय के राष्ट्रवादी स्वतंत्रता के नायक थे। उन्होंने देश में हिन्दी के विकास का प्रयास किया। उत्तर भारत, दक्षिण भारत और विदेशों में सब मिलाकर लगभग छह हजार का एक बड़ा नेटवर्क है। सबने हिन्दी के विकास का काम किया है। हिन्दी के विश्वविद्यालय कम थे या नहीं थे, तो हिन्दी शोध वहीं से होता था। हिन्दी की अच्छी पत्र-पत्रिकाएँ भी वहीं से निकलती थी। इन संस्थाओं का हिन्दी के सर्वांगीण विकास में महत्वपूर्ण योगदान है।

कलानाथ मिश्र- आपको साहित्य भूषण सम्मान, दीनदयाल उपाध्याय सम्मान, हिन्दी साहित्य सम्मेलन से साहित्य वाचस्पति उपाधि और भी अनेक उपाधियाँ मिली है और आपने हिन्दी जगत में इतना वृहत् काम किया है। आप सत्तासी वर्ष की आयु में भी ऊर्जावान हैं। मैं चाहूँगा कि आगामी साहित्यकार, जो साहित्य के क्षेत्र में काम कर रहे हैं। उन्हें कुछ संदेश दें।

दीक्षित जी- यही प्रार्थना करूँगा कि हिन्दी को उत्तरोत्तर विकसित करते हुए, इस बात पर ध्यान दें कि किस तरह से हिन्दी को नई पीढ़ी के लिए उपयोगी बनाया जा सकता है, वे इस दिशा में काम करें। किस्सा-कहानी तो बहुत है। हिन्दी में ऐसा साहित्य लिखा जाए, जिससे ज्ञान-विज्ञान में वृद्धि हो, इससे राष्ट्रीय एकता को बल मिले, यह आज की आवश्यकता है। बाकि तो काम करते रहेंगे, तो विकास होता ही रहेगा। न पुलकित होना चाहिए, न कुंठित होना चाहिए, बस उत्तरोत्तर कार्यरत रहना चाहिए। यही मेरी कामना है।

कलानाथ मिश्र - दीक्षित जी, मैं दिल से अपना आभार व्यक्त करता हूँ। आपने अपने व्यस्त समय में से 'साहित्य यात्रा' से बात करने के लिए समय निकाला। मैं समझता हूँ कि नई पीढ़ी को साहित्य से जोड़ना हमारा दायित्व बनता है। निश्चय ही आपके इन विचारों से युवा पीढ़ी साहित्य से जुड़ पाएगी। हिन्दी जगत को अभी आपकी आवश्यकता है। हिन्दी की श्रीवृद्धि के लिए आपकी रचनाधर्मिता बनी रहे और आपसे हम प्रेरणा ग्रहण करते रहे। साहित्य यात्रा परिवार की ओर से बहुत-बहुत धन्यवाद।

कलानाथ मिश्र, 'अभ्युदय', ई-112, श्रीकृष्णपुरी, पटना-800001 (बिहार)
मोबाइल : 9835063713, ई-मेल : sahityayatra@gmail.com, kalanath@gmail.com

चरित्रहीन : शरतचन्द्र का टेस्टिमोनियल या लिटमस पेपर

डॉ. बहादुर मिश्र

'चरित्रहीन' शरत् बाबू को कितना प्रिय था, इसका पता इस घटना से चलता है कि 5 फरवरी, 1912 को बर्मा-प्रवास के दौरान घर में आग लग जाने के कारण इसकी पूरी पांडुलिपि जलकर राख बन गई थी। हिम्मत बटोरकर उन्होंने इसे स्मृति के सहारे दुबारा लिखा, जिसमें उन्हें पाँच साल लग गए। इसके पूर्व उन्हें पन्द्रह साल लगे थे। यानी, कुल बीस बरसों की उपलब्धि है 'चरित्रहीन'। उस अगलगी में उनकी एक अन्य महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'नारी का इतिहास' की पांडुलिपि भी जल गई थी, पर उसका पुनर्लेखन नहीं किया। बता दूँ कि 'चरित्रहीन' की कल्पना उन्होंने अपने गाँव देवानंदपुर में की थी। जब वे नवीं कक्षा के छात्र थे, तब उनका संबंध एक ऐसे परिवार से हुआ था, जिसका गृहस्वामी कहीं बाहर रहकर नौकरी करता था। घर में जवान पत्नी और बूढ़ी माँ रहती थीं, बस। इस दौरान शरत् उनके बड़े काम आए।

'चरित्रहीन' भारत के सर्वश्रेष्ठ कथाकारों में एक शरतचन्द्र चटर्जी (जन्म : 15.09.1876, मृत्यु : 16.01.1938) का प्राणवंत, मगर सर्वाधिक विवादास्पद उपन्यास है। या यों कहें कि उनके कथ्य और कथा-शिल्प का लिटमस पेपर है। तकरीबन बीस बरसों की लंबी और थकाऊ यात्रा के बाद यह एम.सी. सरकार एण्ड सन्स, कलिकाता से बंगाब्द 1324, चैत्र, तदनुसार 11 नवंबर, 1917 को प्रकाशित हुआ था। इसके पूर्व यह फणीन्द्रनाथ पाल द्वारा संपादित पत्रिका 'यमुना' में धारावाहिक छप चुका था। अक्टूबर, 1913 में जब 'चरित्रहीन' का पहला अंश छपा तब पाठकों में तीव्र प्रतिक्रिया हुई। उन दिनों शरतचन्द्र वर्मा में थे। संपादक ने टेलिग्राम भेजकर सूचना दी - ''चरित्रहीन इज क्रिएटिंग सेंसेशन।'' शरत् ने लौटती डाक से अपनी प्रतिक्रिया लिख भेजी - ''मैं पूछता हूँ, उसमें है क्या? एक शरीफ घर की लड़की किसी भी कारण से हो, मेस की नौकरानी का काम करती है.... और एक शरीफ युवक इसके प्रेम में पड़ता है। फिर भी अंततक उसको कोई खास प्रश्रय नहीं मिलता। और रवीन्द्रनाथ की 'चोखेरबाली' में शरीफ घर की विधवा अपने ही घर में, यहाँ तक कि रिश्तेदारों से नष्ट हो रही है, फिर भी किसी ने चूँ तक नहीं की। बंकिमचन्द्र के 'वसियतनामे' की 'रोहिणी' याद है?... बस, मेरे 'चरित्रहीन'

में ही सारा दोष है? जो कुछ भी हो, मैं यह स्वीकार नहीं करता.... कि 'चरित्रहीन' में एक शब्द भी अनैतिक है। जिसकी इच्छा हो, वे पढ़ेंगे। जो नाम से घबराते हैं, वे नहीं पढ़ेंगे।''

पाठकों (श्रोताओं) के लिए संक्षेप में इसकी कथा बता दूँ : 225 पृष्ठों और 45 परिच्छेदों में विभक्त 'चरित्रहीन' की नायिका 'सावित्री' बालविधवा है। अच्छे घर की होने के बावजूद दुर्भाग्य से उसे एक मेस में नौकरानी का काम करना पड़ता है। उसी मेस में 'सतीश' नामक होनहार विद्यार्थी भी रहता है, जिसकी सेवा करते-करते वह उससे प्रेम करने लगती है। उधर 'सतीश' भी उसके प्रति आकृष्ट होता है। रूढ़िवादी बंगीय समाज के लिए यह पापपूर्ण कृत्य है। 'सावित्री' को इस बात का एहसास है। फलस्वरूप, वह निश्चित दूरी बनाकर रहती है। उसके भीतर जमा हुआ पुरातन संस्कार उसे कोंचता रहता है कि वह बालविधवा है, जो किसी के चरणों का चढ़ावा नहीं बन सकती। इसके बावजूद 'सरोजनी' से होने वाला 'सतीश' का ब्याह टूट जाता है।

इसी उपन्यास में 'किरणमयी' नामक एक और सशक्त नारी-चरित्र है। वह 'पल्ली समाज' की 'रमा', 'लेन-देन' की 'षोडशी', 'पथेर दावी' की 'भारती, 'दत्ता' की 'विजया' तथा 'शेषेर प्रश्न' की 'कमल' से भी कहीं अधिक बुद्धिमती और तेजस्विनी है। मगर, उसके गुणों का उपयोग न तो उसके दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर-पति 'हारान' बाबू और न ही दिन रात झींकने वाली उसकी सास कर पाती है। एकतरफ पति की उदासीनता तो दूसरी तरफ सास की डाँट-फटकार। इसी बीच उसके जीवन में वासंती वायु के झोंके के समान 'उपेन्द्र' का प्रवेश होता है, जो अपने ममेरे भाई 'दिवाकर' को उसके घर छोड़ने आता है, ताकि वहाँ रहकर कॉलेज की पढ़ाई के साथ-साथ घर की देखभाल भी कर सके। ज्ञातव्य है कि हारान बाबू बिस्तर पर पड़े हैं। हाय री हतभाग्यिनी! उपेन्द्र भी 'किरणमयी' की अवहेलना कर जाता है। जब उसे किरण के चरित्र के बारे में संदेह होता है, तब वह 'दिवाकर' को वापस लौटने का आदेश देकर लौट जाता है। प्रतिशोध की अग्नि में जल रही 'किरणमयी' अपने से कम उम्र के लड़के 'दिवाकर' को भगाकर 'अराकान' (बर्मा) ले जाती है। थोड़े ही समय बाद विधुर उपेन्द्र यक्ष्माग्रस्त होकर बिस्तर पकड़ लेता है। जब 'सतीश' दोनों को अराकान से वापस लाता है, तब उपेन्द्र जीवन की अंतिम घड़ियाँ गिन रहा होता है। अंतिम साँस लेने के पूर्व वह न केवल 'सतीश' और 'सरोजनी' को एक कर दोनों को सुखी बनाने की जिम्मेदारी 'सावित्री' पर सौंप जाता है, बल्कि 'दिवाकर' की जिम्मेदारी भी। उपेन्द्र की मृत्यु के बाद 'किरणमयी' विक्षिप्त हो जाती है। और इस तरह, उपन्यास समाप्त हो जाता है।

'किरणमयी' शरतचन्द्र की साहसपूर्ण चारित्रिक सृष्टि है। कथाकार ने उसका चरित्रांकन बिलकुल मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है। जो हो, आखिरकार 'किरणमयी' पाठकों को जुगुप्सा से भर जाती है। इसके विपरीत 'सावित्री' को पाठकीय सहानुभूति प्राप्त होती है। दोनों

की कहानियों का आपस में कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। लेकिन, अंत में लेखक दोनों स्त्रियों से संबद्ध घटनाओं और समस्याओं को परस्पर जोड़ता दिखता है। शरत् बाबू आद्यन्त 'सावित्री' और 'सतीश' को लेकर ही व्यस्त दिखते हैं। वैविध्यपूर्ण घटनाओं और चरित्रों के बहाने लेखक ने यही साबित करना चाहा है कि सावित्री, सतीश, किरणमयी तथा दिवाकर में से कोई भी चरित्र चरित्रहीन नहीं है। यदि कोई चरित्रहीन है तो वह है - सामाजिक व्यवस्था और सोच। इन पात्रों को कुछ भी साबित करने की जरूरत नहीं है। साबित करना है तो पुरुष-प्रधान सामाजिक व्यवस्था और सोच को। कैसी विडंबना है! इस व्यवस्था में जीने वाली विधवाएँ मन-ही-मन किसी पुरुष को पसंद तो कर सकती हैं, पर उससे शादी कर गृहस्थी नहीं बसा सकतीं। पुरुष की स्थिति इसके ठीक उलट है। वृद्धावस्था को प्राप्त विधुर, नौ-दस साल की कन्या से भी विवाह करने के लिए सर्वस्वतंत्र है। अन्य उपन्यासों की तरह 'चरित्रहीन' भी शरत बाबू के भोगे हुए यथार्थ की दमदार अभिव्यक्ति है। उनके छात्र-जीवन के शिक्षक पांचकौड़ी बन्दोपाध्याय ने उन्हें भागलपुर-प्रवास के दौरान तीन बातें सिखाई थीं - पहली, जो भी लिखना, अपने अनुभव से लिखना; दूसरी, किसी को दिखाना-विखाना बिलकुल नहीं और तीसरी, किसी का जी मत दुखाना। पहली और दूसरी बातों पर तो उन्होंने भरपूर अमल किया, पर तीसरी बात पर घड़ों पानी डाल दिया। उन्होंने अपने स्वच्छंद आचरण और लेखन-दोनों से समाज में नैतिकता के स्वयंभू ठेकेदारों का जी दुखाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। 'चरित्रहीन', 'ब्राह्मण की बेटी' आदि उपन्यास इसके उदाहरण हैं।

'चरित्रहीन' शरत् बाबू को कितना प्रिय था, इसका पता इस घटना से चलता है कि 5 फरवरी, 1912 को बर्मा-प्रवास के दौरान घर में आग लग जाने के कारण इसकी पूरी पांडुलिपि जलकर राख बन गई थी। हिम्मत बटोरकर उन्होंने इसे स्मृति के सहारे दुबारा लिखा, जिसमें उन्हें पाँच साल लग गए। इसके पूर्व उन्हें पन्द्रह साल लगे थे। यानी, कुल बीस बरसों की उपलब्धि है 'चरित्रहीन'। उस अगलगी में उनकी एक अन्य महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'नारी का इतिहास' की पांडुलिपि भी जल गई थी, पर उसका पुनर्लेखन नहीं किया। बता दूँ कि 'चरित्रहीन' की कल्पना उन्होंने अपने गाँव देवानंदपुर में की थी। जब वे नवीं कक्षा के छात्र थे, तब उनका संबंध एक ऐसे परिवार से हुआ था, जिसका गृहस्वामी कहीं बाहर रहकर नौकरी करता था। घर में जवान पत्नी और बूढ़ी माँ रहती थीं, बस। इस दौरान शरत् उनके बड़े काम आए। उनकी निकटता तब और बढ़ी, जब युवा गृहस्वामिनी बीमार पड़ी। शरत् उम्र के उस पड़ाव पर थे, जहाँ कामांकुर फूटने लगा था। उन्होंने प्रवत्स्यपतिका युवा गृहस्वामिनी को कामातुर भाव से देखा था, जिसके लिए उन्हें फटकार सुननी पड़ी थी। पश्चाताप की आग में जल रहे शरत् पैदल ही 'पुरी' की ओर भाग गए। रास्ते में थके-माँदे, भूखे-प्यासे किशोर शरत् ज्वरग्रस्त हो गए, जिन्हें एक युवा विधवा अपने घर ले गई। वह ऐसी अभागिन थी, जो देवर और बहनोई नामक दो पाटों के बीच लगातार पिस रही थी। दोनों उसपर एकाधिकार स्थापित करना चाहते थे। बस, क्या था! शरत् के स्वस्थ होते ही दोनों एक साथ 'पुरी' के लिए चल पड़े। कुछ ही दूर आगे बढ़े थे कि दोनों एकाधिकारी वहीं

पहुँचकर उसे जबरन घर ले गए। इसके लिए किशोर शरत् की भरपूर पिटाई हुई। बाद चलकर पहली स्त्री, 'चरित्रहीन' की 'किरणमयी' बनी, जबकि दूसरी बालविधवा स्त्री 'सावित्री'। लेखक ने कल्पना से उसे मेस की नौकरानी बनाते हुए 'सतीश' की मौन प्रेमिका बना दिया। लेखक के अनुसार, 'चरित्रहीन' उपन्यास पहली स्त्री (कल्पित नाम सुरबाला) के प्रति गुरुदक्षिणा है। 'शरत्-परिचय' के लेखक और मित्र-तुल्य मामा सुरेन्द्रनाथ गांगुली के साथ दिये गये इंटरव्यू में उन्होंने साफ-साफ कहा था- ''... मुझमें नारी-जाति के संबंध में जो सजगता देखते हो, वह सुरबाला के कारण ही है। उनके प्रति मैं सदा श्रद्धानत रहा हूँ। यह चरित्र-चित्रण ही मेरी गुरु-दक्षिणा है।'' (पृ. सं. 95)

जहाँ तक 'किरणमयी' के नाम का संबंध है, वह भागलपुर के गांगुली परिवार (ननिहाल) की किसी 'किरणशशि' नामक महिला के नाम के पूर्वार्ध पर आधारित है। और सतीश? वह शरत् के भागलपुर-प्रवास के बाल्यकालिक मित्र और 'देवदास' के 'इंद्रनाथ' बने 'राजू मजूमदार' के साथ-साथ स्वयं लेखक का मिला-जुला रूप है। 'राजू' की तरह ही 'सतीश' भी गायन-वादन, नाटक-नौटंकी आदि में पारंगत है।

जैसा कि शुरुआत में ही कहा जा चुका है कि 'चरित्रहीन' शरत् की ऐसी औपन्यासिक रचना है, जो भागलपुर की धरती से 1897 में शुरू होकर क्रमशः मुजफ्फरपुर, कलकत्ता, बर्मा, पुनः कलकत्ता और बर्मा में पूरी होकर 11 नवंबर, 1917 को पुस्तकाकार छपी। 'उपासना' पत्रिका ने छपते ही तीखी भर्त्सना की तो वंगीय साहित्य सम्मेलन भी पीछे नहीं रहा। कुछ युवक तो घर पर ही आ धमके और 'चरित्रहीन' की प्रति जला बैठे। तभी एक युवक ने पूछ लिया - ''अच्छा, किरणमयी के बारे में क्या कहते हो?'' शरत् ने शांत स्वर में उत्तर दिया - ''किरणमयी के चरित्र के द्वारा मैंने नारी-जीवन की व्यर्थता को दिखाना चाहा है। किरणमयी और हारान बाबू का गृहस्थ जीवन बड़ा ही करुण है। स्वामी का प्यार उसने नहीं पाया है।'' उधर से किसी ने व्यंग्य किया - ''सावित्री के समान नारी मिलती तो हम भी मेस में रहते।'' शरत् ने समझाया - ''सतीश होने की जरूरत है। उसके बिना सावित्री का हृदय नहीं जीता जा सकता।'' शरत् के कैशोर्यकालिक मित्र प्रमथनाथ भट्ट ने तो 'सावित्री' को लेकर उपन्यास की रचना-प्रक्रिया तथा चरित्र-संयोजन पर ही सवाल खड़ा कर दिया - ''मेस की दासी सावित्री को उपन्यास के आरंभ में लाकर खड़ा कर दिया, यह बात मुझे रुची नहीं।'' शरत् ने खंडन करते हुए उत्तर दिया - ''जो आदमी मेस की दासी को आरंभ में ला खड़ा करता है, वह जानबूझ कर ही करता है। तुम उसका अंत न जानकर उसको मेस की दासी करके देखते हो। प्रमथ, हीरे को कांच कहकर भूल करते हो, भाई।''

यही भूल 'भारतवर्ष' के संपादक और सुप्रसिद्ध नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय ने भी की थी। इसी तरह कुमुदिनीकांत कर ने माथा पीटते हुए शरत् बाबू से पूछा था- ''आप ये दृश्य

साहित्य में क्यों ले आए?'' शरत् बाबू ने पलटकर जवाब दिया था- ''मैंने नया तो कुछ लिखा नहीं। दुनिया में यह सब पहले से ही है।'' एक प्रोफेसर ने अपने छात्रों को 'चरित्रहीन' पढ़ने से मना किया। इसके विपरीत कुछ प्रगतिधर्मा किस्म के पाठकों ने जिनमें युवाओं की संख्या अधिक थी, इसे न केवल पढ़ा और इस पर चर्चा की, बल्कि औरों को भी पढ़ने की सलाह दी।

एकबार बनारस-यात्रा के दौरान एक बंगाली प्रोफेसर की बालविधवा पुत्री ने शरत् बाबू को यह कहकर चौंका ही दिया - ''आपने मेरी रक्षा की है। चिरकृतज्ञ हूँ।'' शरत् बाबू ने पूछा - ''कैसे? जरा समझाकर कहिए।'' इसपर उसने अपनी पूरी रामकहानी बता दी। उसने बताया - ''एकबार अपने पिता के छात्र और अपने मित्र के साथ भागने की योजना बनाई। दो बजे रात को उसे आने के लिए कह दिया था। इस बीच उसे नींद नहीं आ जाए, इसलिए सद्यःप्रकाशित 'चरित्रहीन' पढ़कर जाग रही थी। जब पुस्तक समाप्त हुई तब रात के दो बच चुके थे। ठीक समय पर मेरा प्रेमी आया। तबतक मैंने अपना निर्णय बदल लिया था। प्रेमी को चले जाने के लिए कह दिया।'' शरत्चन्द्र से अपनी पहली मुलाकात में 'चरित्रहीन' खासकर उसकी पात्र 'किरणमयी' की प्रशंसा करती हुई उस युवती ने कहा था कि आखिरकार मैं उसी के कारण पथभ्रष्ट होने से बच गई। शरत् बाबू के 'चरित्रहीन' के लिए इससे बड़ा पुरस्कार और प्रशस्ति-पत्र क्या हो सकता है? यही उस उपन्यास का टेस्टिमोनियल है।

इस तरह, 'चरित्रहीन' ने कुछ लोगों को नाराज किया तो कुछ को प्रसन्न और प्रेरित। जो हो, इस प्रकार का उपन्यास कभी-कभार ही लिखा जाता है। इसीलिए तो बस उसे न केवल शरत्चन्द्र, बल्कि बंगला का श्रेष्ठ उपन्यास माना गया। 2017 'चरित्रहीन' का प्रकाशन-शताब्दी-वर्ष था, इसके साथ ही 'श्रीकान्त' (पहला पर्व), 'काशीनाथ', 'निष्कृति' और 'देवदास' का भी। शरत्चन्द्र के श्रद्धालु पाठकों ने एतदर्थ, साहित्यिक उत्सव का भरपूर आयोजन कर शरत् और 'चरित्रहीन' का गुणगान किया। उनका यह उपन्यास आज भी प्रासंगिक है।

डॉ. बहादुर मिश्र, से. नि. प्रो. एवं अध्यक्ष : हिन्दी विभाग; संकायाध्यक्ष : मानविकी
ति. माँ. भा. वि. वि. भागलपुर-7, मो. : 9934694386 ह्वाट्स ऐप : 9472506322

✧ ✧ ✧

डॉ. शत्रुध्न प्रसाद के ऐतिहासिक उपन्यास

डॉ. सदानन्द प्रसाद गुप्त

सप्तसिंधु प्रदेश अर्थात् सिंधु, सरस्वती तथा पंचनद की पाँच नदियों का क्षेत्र ही वैदिक जन की मूल भूमि है। वैदिक संस्कृति का विकास वहीं हुआ है। परंतु सप्तसिंधु के चतुर्दिक एवं पूर्व दिशा में विभिन्न जन समूहों की संस्कृतों से उसका द्वन्द्व रहा है। याज्ञवल्क्य अपने मातुल गुरु वैशम्पायन की कुछ रूढ़िबद्ध मान्यताओं से असहमति प्रकट करते हैं। यह वैदिक क्रांति-चेतना है। यह क्रांति चेतना बलि प्रथा का विरोध करती है, साथ ही जन्मना के विपरीत कर्मणा वर्ण-व्यवस्था का समर्थन करती है (भूमिका)। वैशम्पायन द्वारा निष्कासित किए जाने के बाद याज्ञवल्क्य विभिन्न जन समूहों से मिलते हैं, वैदिक संस्कृति के साथ उनके समन्वय का प्रयास करते हैं। कीकट के व्रात्यों से उनका टकराव होता है, पर याज्ञवल्वय का प्रयास करते हैं। कीकट के व्रात्यों से उनका टकराव होता है, पर याज्ञवल्क्य अपनी विनम्रता, आत्मीयता तथा समन्वयन की चेतना द्वारा वैदिक और व्रात्य सभ्यता में सामंजस्य स्थापित करते हैं। यही वैदिक रूद्र और व्रात्य के शिव का समन्वय है।

राष्ट्रीय अस्मिता के सजग प्रहरी के रूप में रचना संसार में सक्रिय डॉ. शत्रुध्न प्रसाद अपनी रचनाधर्मिता के माध्यम से राष्ट्रीय-सांस्कृतिक स्वत्व जागृत करने वाले कथाकार के रूप में विख्यात है। 'सिद्धियों के खण्डहर', 'शिप्रा साक्षी है', 'हेमचंद्र विक्रमादित्य', 'सुनो भाई सुनो', 'तुंगभ्रदा पर सर्योदय', 'कश्मीर की बेटी', 'सरस्वती सदानीरा', 'अरावली का मुक्त शिखर,' 'शहजादा दाराशिकोहः दहशत का दंश', 'तख्ते ताऊस', 'श्रावस्ती का विजय पर्व' जैसे ऐतिहासिक उपन्यासों के माध्यम से शत्रुध्न प्रसाद ने सामाजिक-राष्ट्रीय एकता के स्वर को मुखरित किया है। ऐतिहासिक वृत्तों में शत्रुध्न प्रसाद का मन अधिक रमा है। अतीत की ओर प्रस्थान मनुष्य का स्वभाव रहा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार-अतीत की स्मृति में मनुष्य के लिए स्वाभाविक आकर्षण रहा है। वस्तुतः अतीत की ओर लौटने में अपनी पहचान, अपने स्वत्व को भी खोजने का भाव रहता है। अतीत के सबल एवं दुर्बल पक्षों की स्मृति- दोनों ही वर्तमान के लिए संदेश देने का कार्य करती है- गौरवशाली पक्ष की स्मृति जहाँ वर्तमान में समस्याओं से संघर्ष करने की प्रेरणा देती है, वहीं दुर्बल पक्ष की स्मृति आत्मावलोकन का अवसर प्रदान करती है। ऐतिहासिक घटनाओं को केन्द्र में रखकर लिखे गए उपन्यासों के विषय में डॉ. शत्रुध्न प्रसाद का मानना है कि ऐतिहासिक उपन्यास

के खण्डहर में सोया अतीत उठकर वर्तमान से जुड़ जाता है और परिस्थितियों से जूझता वर्तमान बीते अतीत से कुछ समझता है और भविष्योन्मुख हो जाता है ('शिप्रा शाक्षी है' की भूमिका)। वस्तुतः लेखक ऐतिहासिक परिवेश में उसकी सच्चाई को मूर्त करने के साथ ऐसे मूल्यों को उभारने की कोशिश करता है, जो व्यापक रूप से वर्तमान जीवन को अपनी परिधि में समेट लेते हैं।

प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा का कहना है कि 'प्राचीन में बहुत कुछ अच्छा था, कुछ बुरा। बुरे के हम शिकार हुए, अच्छे ने हमें सर्वनाश से बचा लिया। वर्तमान और भविष्य के लिए हम प्राचीन से कुछ ले सकते हैं, प्राचीन की गलतियों से बच सकते हैं।'' ऐतिहासिक उपन्यास इतिहास की पुनः प्रस्तुति मात्र नहीं है। इसमें इतिहास की विस्मृत कड़ियों को जोड़ने का प्रयास किया जाता है, किसी विशेष कालखण्ड के यथार्थ की तर्कपूर्ण व्याख्या भी की जाती है। शत्रुध्न प्रसाद इतिहास को निरंतरता में देखने के आग्रही है। उनकी दृष्टि में काल अखंड प्रवाह है। इतिहास युग क्रम से अतीत जीवन का केवल विवरण मात्र नहीं होता बल्कि वह वैज्ञानिक व्यवस्थित प्रस्तुति है। ऐतिहासिक प्रसंग एवं तथ्य सृजन के लिए कंकाल मात्र है, उस युग के मुख्य और गौण पात्रों के जीवन की अनुभूति, चिंतन, संकल्प एवं संघर्ष के माध्यम से चित्रित होकर वह सृजनात्मक कथा साहित्य का रूप ले लेता है। भाषा और शिल्प के द्वारा यह सम्पन्न होता है। इतिहास केवल कथावस्तु प्रदान करता है, कथानक की रचना कथाकार का वैशिष्ट्य है।

अपने ऐतिहासिक उपन्यासों के विषय में डॉ. शत्रुध्न प्रसाद की स्वीकृति है ''मैंने अतीत के बहुआयामी संघर्षों के यथार्थ को प्रगतिशील सांस्कृतिक दृष्टि, राष्ट्रबोध और मानव मूल्यों के साथ अपने उपन्यासों में चित्रित किया है। मेरी मुख्य दृष्टि मध्ययुग के संघर्ष, पराजय और विजय-तीनों पर केन्द्रित रही है।'' वस्तुतः अपनी धरती से प्रेम करने वाला लेखक अपनी संस्कृति से भी प्रेम करता है। संस्कृति का सम्बन्ध देश के भूगोल और इतिहास से स्वभावतः होता ही है। लेखक अपने समय की अपेक्षा नहीं कर सकता, वह यदि अतीत के कथ्य को विषय बनाता है तो उसका उद्देश्य होता है, उसके माध्यम से वर्तमान को प्रेरणा देना।

डॉ. शत्रुध्न प्रसाद ने विभिन्न काल खण्डों को अपने उपन्यास का विषय बनाया है। इस संदर्भ में बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के इतिहास के केन्द्र में रखकर लिखे गए उपन्यास 'सिद्धियों के खण्डहर' में उन कारणों की खोज की गयी है, जिससे समाज में द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न हुई-फलतः उसमें विखण्डन हुआ, राज्य दुर्बल हुआ और विदेशी आक्रांताओं को पैर जामने का अवसर मिला। उससे जो आघात पहुँचा और वैषम्य की स्थिति उत्पन्न हुई, उसने भारत के दो दुकड़े किए और आज भी स्थिति विघातिनी विषमता बनी हुई है। इस्लामी सभ्यता के उदय और उसके राजनीतिक स्वरूप में ढल जाने की प्रक्रिया ने वैश्विक सभ्यता के समक्ष संकट खड़ा किया, क्रूसेड इसका प्रबल उदाहरण है। इस्लाम ने आक्रामक विस्तारवाद की नीति अपनायी, समन्वय के स्थान पर विग्रह को प्राथमिकता दी, दूसरी सभ्यताओं को नष्ट कर अपनी मान्यताओं को

थोपने का अभियान चलाया। इसी का परिणाम है इख्तियार-बिन-बख्तियार खिलजी का मगध की राजधानी उदंतपुरी एवं विश्वविख्यात विद्यापीठ नालन्दा पर आक्रमण तथा उनका ध्वंस। मगध का बौद्ध मतावलंबी, अहिंसा के अतिरेक से ग्रस्त शासन उसका सामना नहीं कर पाता। शैव, शाक्त, वैष्णव संप्रदायों का पारस्परिक विग्रह तथा बौद्ध मत के साथ उनकी असहमति ने समाज में द्वन्द्व उत्पन्न किया, उसे कमजोर बनाया। इसी द्वन्द्व से ग्रस्त समाज की स्थिति का मार्मिक चित्रण करने वाला उपन्यास है 'सिद्धियों के खण्डहर'। सम्प्रदाय, जाति और प्रादेशिकता में सिमटे रहने के क्या परिणाम होते है, अहिंसा के अतिरेक से क्या घटित हो सकता है, वह 'सिद्धियों के खण्डहर' में स्पष्टतया देखने को मिलता है। नालंदा विध्वंस पर लेखक अपना निष्कर्ष उपन्यास के एक पात्र भानुदत्त शर्मा के माध्यम से प्रस्तुत करता है-'काश! हम सम्प्रदाय, जाति और प्रदेश को भूलकर उस धरती को माँ मानकर एक साथ खड़े हो जाते। हम संगठित हो जाते। अहिंसा के अतिरेक से बचते। हम खड्गहस्त हो जाते। अहिंसा और तंत्र ने हमें शिथिल कर दिया (256)।''

'शिप्रा साक्षी है' डॉ. शत्रुध्न का एक ऐसा महत्त्वपूर्ण उपन्यास है, जिसमें शकरि विक्रमदित्य द्वारा शकों के पराभव एवं उनके भारतीय सभ्यता में सम्मिलन की कथा वर्णित है। उज्जयिनी के अहंकारग्रस्त सम्राट गंधर्वसेन जैन साध्वी सरस्वती देवी का अपहरण करता है। जैन साध्वी के भाई कालकाचार्य प्रतिशोध लेने हेतु विदेश तक आक्रांता को आमंत्रित करते हैं। परिणाम स्वरूप उज्जयिनी पर शकों का आधिपत्य हो जाता है। गंधर्वसेन के पुत्र विषमशील भारत के भिन्न-भिन्न गणराज्यों को संगठित कर शकों को पराजित करते हैं और शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना करते हैं। वे ही कालान्तर में विक्रमादित्य की उपाधि धारण करते हैं और विक्रम संवत् का प्रारम्भ करते हैं। शकों की पराजय किंतु भारतीय समाज में उनका सम्मिलन इतिहास की अद्भुत घटना है।

'हेमचंद्र विक्रमादित्य' उपन्यास में सोलहवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध के राजनीतिक-सांस्कृतिक-सामाजिक द्वन्द्व का चित्रण किया गया है। अफगान-मुगल संघर्ष के उथल-पुथल के बीच रेवाड़ी (हरियाणा) का व्यापारी पुत्र हेमू अफगान सेनापति और मंत्री बन जाता है। सात अक्टूबर, 1556 को दिल्ली की लड़ाई में वह अकबर की मुगल सेना को पराजित कर शाही दर्जा प्राप्त करता है और विक्रमादित्य की उपाधि धारण करता है, जिसे अतीत में कई राज्यों ने अपनाया था। एक महीने बाद पानीपत के दूसरे युद्ध में आँख में तीर लगने से वह घायल हो जाता है और पकड़ लिया जाता है। बाद में अकबर उसकी हत्या करवा देता है। इतिहास द्वारा उपेक्षित हेमू के उज्ज्वल चरित्र को केन्द्र में रखकर उस काल की त्रासद राजनीतिक उथल-पुथल तथा राष्ट्रीयता का आधुनिक संवेदना के साथ चित्रण करते हुए इतिहास में हेमू को न्यायोचित स्थान दिलाना उपन्यासकार का समीष्ट है। इसमें मुगल एवं अफगान शासन में हिन्दू जनता की त्रासदी का चित्रण कर शासक धर्म, राष्ट्रीय भावना, भेदमुक्त समाज, सामान्य मानवता की भावना का संदेश इस उपन्यास का मुख्य हेतु है। मुस्लिम शासन में हिन्दू जनता पर हो रहे अत्याचारों एवं

उनसे उत्पन्न पीड़ा, धर्मान्तरण की समस्या और उस नव धर्मान्तरित वर्ग की उलझन, धार्मिक विद्वेष से लगाए गए करों के बोझ से दबी जनता की दयनीय स्थिति, मंदिरों एवं हिन्दू प्रतीकों के ध्वंस से उपजी आत्मा की पुकार ने हेमू के मन में देशोद्धार की भावना उद्धेलित की, उसने आक्रांताओं के विरुद्ध तलवार उठायी। हेमू का उद्देश्य है देश को विध्वंस से बचाना, देश की संस्कृति को विखंडित होने बचाना।

'सुनो भाई साधो' भक्तिकाल के संत कवि कबीरदास के जीवन एवं उस समय के यथार्थ पर आधारित उपन्यास है। इसमें तत्कालीन राजनीतिक द्वन्द्व के साथ-साथ जातिगत द्वन्द्व, धर्मान्तरण की समस्या, सामान्य जनता की दयनीय सामाजिक आर्थिक दशा, इस्लामी शासन की क्रूरता का मार्मिक चित्रण हुआ है। इसमें इस विडम्बना का भी दिग्दर्शन है कि यद्यपि कबीरदास और सिकन्दर लोदी हिन्दू माँ की संतान है तथापि दोनों के चरित्र में आकाश-पाताल का अंतर है। सिकन्दर लोदी में अन्य मत वालों के प्रति घोर असहिष्णुता है तो कबीर सहिष्णुता और उदारता के चरम प्रतीक है। सल्तनत और मुगल शासन भारतीय जीवन पद्धति के लिए अत्यंत कष्टप्रद रहा है। ऐसे समय कबीरदास का उदय एक राहत भरी खबर है। सिकन्दर लोदी की कट्टर धर्मान्ध नीति के समक्ष कबीरदास अद्वैतवाद से उत्पन्न समतावादी विचारधारा का संकल्प लेकर दृढ़ता के साथ खड़े रहते हैं। डॉ. शत्रुध्न प्रसाद ने कबीरदास के व्यक्तित्व के अलग पक्ष को उद्घाटित किया है। इस उपन्यास के माध्यम से अद्वैतवादी समतामूलक समाज की स्थापना डॉ. शत्रुध्न प्रसाद का उद्देश्य है।

यह भारतीय इतिहास की बड़ी विडम्बना रही है, उसमें दिल्ली सल्तनत और मुगल साम्राज्य को जो महत्व दिया गया है, उसका शतांश महत्त्व भी अन्य राजवंशो को नहीं मिला है। इसके दो प्रमुख उदाहरण दिए जा सकते हैं- उत्तर भारत का कर्कोटक राजवंश और दक्षिण का विजयनगर साम्राज्य। कर्कोटक राजवंश के प्रतापी सम्राट ललितादित्य मुक्तापीड के साम्राज्य का विस्तार पूर्व में बंगाल तक दक्षिण में कोंकण तथा पश्चिम में तुर्किस्तान तथा उत्तर-पूर्व में तिब्बत तक था। यह अशोक और अकबर के सम्मिलित साम्राज्य से भी बड़ा था। उनका राज्यकाल (724-761 ई.) निर्विध्न रहा। अपने समय में उन्होंने अरब आक्रांताओं को सफलता पूर्वक दबाया। इसी प्रकार विजयनगर साम्राज्य का काल भी तीन सौ वर्षो का (1336-1646 ई.) रहा है। इस साम्राज्य की स्थापना की प्रेरणा स्वामी माधवचार्य या माधव विद्यारण्य ने हरिहर राय प्रथम और बुक्काराय प्रथम को दी थी। उनकी प्रेरणा से दोनों भाइयों ने 1336 ई. में विजयनगर साम्राज्य की स्थापना की। स्वामी विद्यारण्य के समकक्ष मध्यकाल में यदि किसी का नाम लिया जा सकता है तो वह नाम है समर्थ गुरु रामदास का, जिन्होंने शिवाजी महाराज को माध्यम बनाकर इस्लामी साम्राज्य का सामना किया था। स्वामी विद्यारण्य ने हरिहर प्रथम के समय से राजाओं की करीब तीन पीढ़ियों का राजनीतिक निर्देशन किया। वे जीवन भर देश, समाज और संस्कृति के रक्षण की चिंता करते रहे। इसी विजयनगर साम्राज्य की स्थापना को केन्द्र में रखकर 'तुंगभद्रा पर सूर्योदय' उपन्यास की रचना की रचना की गयी है।

14वीं शताब्दी में खिलजी वंश की समाप्ति के बाद तुगलक वंश की स्थापना होती है। गयासुद्दीन तुगलक की मृत्यु के बाद मुहम्मद-बिन-तुगलक दिल्ली की गद्दी पर बैठता है। वह सम्पूर्ण दक्षिण भारत को भी जीत लेता है। तुगलक दक्षिण के राज्य देवगिरि को दौलताबाद घोषित कर देता है। धर्मान्धता उत्तर से दक्षिण भारत तक को निगलने के लिए आतुर है। ऐसे समय स्वामी विद्यारण्य द्वारा किए गए सांस्कृतिक ऐक्य तथा हरिहर एवं बुक्का द्वारा की गयी हिन्दू राज्य की प्रतिष्ठा भारतीय जीवन के गौरवपूर्ण पृष्ठ का अनावरण है। तुंगभद्रा दक्षिण की एक नदी है- जिसके तट पर हिन्दू राज्य का सूर्योदय होता है। दक्षिण के समस्त सम्प्रदायों का एक स्थान पर एकत्र होकर एक मत से देश की भूमि को विदेशी शासन से मुक्त कराने का आह्वान् अपने आप में महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय संकल्प है। अपनी प्राचीन संस्कृति पर गर्व बोध उत्पन्न कर वर्तमान को सशक्त बनाना इस उपन्यास की मूल चेतना है।

1320 ई. से 1339 ई. के बीच कश्मीर में व्याप्त राजनैतिक उथल-पुथल के मध्य कश्मीर की अंतिम शासक कोटा देवी की आत्महत्या और अफगान शरणार्थी शाहमीर द्वारा छल पूर्वक कश्मीर की सत्ता पर अधिकार करने की घटना पर आधारित उपन्यास है 'कश्मीर की बेटी'। वस्तुतः ऋषि कश्यप की पावन भूमि का अंधकार और हाहाकार में बदलने का यह मार्मिक आख्यान है। 1320 ई. से 1339 ई. के बीच विदेशी आक्रांताओं और आंतरिक दुर्बलताओं के कारण कश्मीर को एक ऐसी त्रासदी से गुरजना पड़ता है, जिसकी पीड़ा भी आज तक वह मुक्त नहीं हो सका है। इन सभी कारणों की पड़ताल करते हुए उनसे सचेत रहने की प्रेरणा देना ही उपन्यास का मूल मंतव्य है। मंगोल दस्युओं से त्रस्त कश्मीर को राजा सहदेव की निर्बलता तथा पंडित देवस्वामी की रूढ़िवादिता के कारण ऐसी स्थिति का सामना करना पड़ता है, जिसका परिणाम कश्मीर आज भी भोग रहा है। जहाँ एक ओर कश्मीर नरेश सहदेव एवं उदयनदेव की निर्बलताएँ हैं, वहीं विदेशी घुसपैठिए सिंहासन हस्तगत करने के लिए कटिबद्ध हैं। कश्मीर की बेटी कोटा देवी शत्रुओं से संघर्ष करने के लिए समर में उतरती है किंतु तबतक सत्ता षड्यंत्रकारियों के हाथ में पहुँच जाती है। कथाकार आपसी मत वैभिन्न्य तथा जातिगत संकीर्णता को इस परिणति के लिए उत्तरदायी मानता है, किंतु वह कोटा देवी के सहज, संकल्प और आत्मत्यागपूर्ण व्यक्तित्त्व को रेखांकित करता है और उसे राष्ट्रीय चेतना का संवहन करने वाले व्यक्तित्त्व के रूप में चित्रित करता है।

'अरावली का मुक्त शिखर' राष्ट्रीय अस्मिता एवं स्वाभिमान के प्रतीक महाराणा प्रताप के जीवन-संघर्ष को केन्द्र में रखकर लिखा गया उपन्यास है। महाराणा उदय सिंह की मृत्यु के बाद महाराणा प्रताप के राज्याभिषेक से उपन्यास का आरंभ होता है और हल्दी घाटी तथा अन्य अनेक युद्धों में जय-पराजय के बीच कथा का विकास होता है और अंत में रहीम के नेतृत्व में गयी मुगल सेना के साथ गोगुंदा युद्ध में रहीम के घायल होने, घायल रहीम की हत्या न करने, उनकी कैद की गयी बेगम यास्मीन को ससम्मान रहीम तक पहुँचाने के साथ कथा समाप्त होती है पर सबका पर्यवासान महाराणा प्रताप और अकबर अर्थात् मुगल साम्राज्य के वर्चस्व और मेवाड़ की

स्वतंत्रता के बीच संघर्ष में होता है। शत्रुध्न प्रसाद के उपन्यास की यह विशेषता है कि जहाँ महाराणा प्रताप आधृत अन्य उपन्यासों में हल्दी घाटी युद्ध तक ही कथा वस्तु सीमित रखी गयी है वहीं इस उपन्यास में कथा को आगे बढ़ाया गया है। अनेक युद्धों में विजयी होने तथा क्रमशः मेवाड़ की भूमि को मुगलों से मुक्त कराने की ओर प्रताप से अग्रसर होने का संकेत इसमें है। लेखक ने रहीम के साथ अंतिम युद्ध की चर्चा करके कथानक को विराम दिया है और इस प्रकार सिद्ध किया है कि अरावली का शिखर मुक्त है। महाराणा प्रताप की दृढ़ता, कर्मठता, संयम, स्वतंत्रता के प्रति अविचल निष्ठा, कष्ट सहन करने की असीम शक्ति, सबको साथ लेकर चलने की क्षमता, उदात्तता का निरूपण लेखक ने कुशलता के साथ किया है। अकबर के समक्ष महाराणा प्रताप के व्यक्तित्त्व की श्रेष्ठता का निरूपण लेखक का अभीष्ट है। महाराणा प्रताप और अकबर क्रमशः स्वातंत्र्य चेतना और साम्राज्यवाद के प्रतीक है। रण सन्नद्ध दोनों हैं पर एक स्वाधीनता के लिए, अस्मिता की रक्षा के लिए और दूसरा स्वत्वहरण के लिए। उपन्यास की केन्द्रीय भावना राष्ट्रीय और सामाजिक एकता का विकास है।

'शहजादा दाराशिकोहः दहशत का दंश'- औरंगजेब की धर्मान्ध नीति के तले पिसती हुई भारतीय जनता की मार्मिक स्थिति का चित्रण इस उपन्यास का कथ्य है। अद्वैतवादी समता का विचार रखने वाले दाराशिकोह की निर्मम हत्या के बाद उपन्यास का आरंभ होता है और उपन्यास का अंत शिवाजी के औरंगजेब की कैद से निकलने तथा दहशत के सैलाब के उतरने की शुरूआत के साथ होता है। औरंगजेब प्रत्येक उदारवादी की हत्या करवाता है। इस क्रम में सूफी फकीर सरमद, उसका शिष्य अमीचंद, सिक्खा संत हरेकिशन तथा उधोदास वैरागी मुख्य है। सतनामियों का क्रूरता के साथ दमन, गोकुल जाट की निर्मम हत्या, मंदिरों का ध्वंस, सामान्य हिन्दू जनता पर विभिन्न तरह के करों का बोझ, पंडित राज जगन्नाथ का लवंगी के साथ आगरा से पलायन आदि का मार्मिक वर्णन इस उपन्यास में है। दारा की पराजय और औरंगजेब की विजय किसी एक व्यक्ति की पराजय दूसरे व्यक्ति की विजय नहीं है। अपितु उदार मानवता पर कट्टर धर्मान्धता की विजय है। निर्दोष दारा की हत्या ने हिन्दू-मुस्लिम समन्वय की धारा को अवरुद्ध किया, इसका कलात्मक वर्णन इस उपन्यास में है।

'सरस्वती सदानीरा' उपन्यास वैदिक ऋषि याज्ञवल्क्य सरस्वती के तट से सदानीरा (गंडक) के तट तक सांस्कृतिक समन्वय हेतु की गयी यात्रा की गाथा है, जिसमें वैदिक संस्कृति के साथ नागों, पणियों, यक्षों, किन्नरों, गंधर्वो, किरातों एवं कीकटों की जीवन शैली को समाहित किया गया है। कथाकार ने उपन्यास की भूमिका में स्पष्ट किया है 'सप्तसिंधु प्रदेश अर्थात् सिंधु, सरस्वती तथा पंचनद की पाँच नदियों को क्षेत्र की वैदिक जन की मूल भूमि है। वैदिक संस्कृति का विकास नहीं हुआ है। परंतु सप्तसिंधु प्रदेश अर्थात् सिंधु, सरस्वती तथा पंचनद की पाँच नदियों का क्षेत्र ही वैदिक जन की मूल भूमि है। वैदिक संस्कृति का विकास वहीं हुआ है। परंतु सप्तसिंधु के चतुर्दिक एवं पूर्व दिशा में विभिन्न जन समूहों की संस्कृतों से उसका द्वन्द्व रहा है। याज्ञवल्क्य अपने मातुल गुरु वैशम्पायन की कुछ रूढ़िबद्ध मान्यताओं से असहमति प्रकट करते

हैं। यह वैदिक क्रांति-चेतना है। यह क्रांति चेतना बलि प्रथा का विरोध करती है, साथ ही जन्मना के विपरीत कर्मणा वर्ण-व्यवस्था का समर्थन करती है (भूमिका)। वैशम्पायन द्वारा निष्कासित किए जाने के बाद याज्ञवल्क्य विभिन्न जन समूहों से मिलते हैं, वैदिक संस्कृति के साथ उनके समन्वय का प्रयास करते हैं। कीकट के व्रात्यों से उनका टकराव होता है, पर याज्ञवल्वय का प्रयास करते हैं। कीकट के व्रात्यों से उनका टकराव होता है, पर याज्ञवल्क्य अपनी विनम्रता, आत्मीयता तथा समन्वयन की चेतना द्वारा वैदिक और व्रात्य सभ्यता में सामंजस्य स्थापित करते हैं। यही वैदिक रूद्र और व्रात्य के शिव का समन्वय है। भारत की यह समन्वयशील संस्कृति का उत्कृष्ट प्रमाण है। उपन्यासकार ने आर्य-अनार्य-द्वन्द्व की धारणाओं का उन्मूलन करते हुए भारतीय संस्कृति की एक ही प्रवाहमान धारा का अस्तित्व स्वीकार किया है। यह इस उपन्यास की अन्यतम उपलब्धि है।

'तख्ते ताऊस' में नारनौल के सतनामी निर्गुण सम्प्रदाय के अनुयायियों का संघर्ष और कश्मीरी ब्राह्मणों की रक्षा के लिए गुरु तेग बहादुर के बलिदान को कथा का विषय बनाया गया है। गुरु तेगबहादुर कश्मीर के सनातनियों की रक्षा हेतु औरंगजेब के साथ संघर्ष करते हैं। औरंगजेब धर्म परिवर्तन का निर्णय सुनाता है और अपनी आहुति देकर वे कश्मीरी सनातनियों की रक्षा करते हैं। यह वह समय है जब महाराष्ट्र में शिवाजी औरंगजेब के विरुद्ध उठ खड़े होते हैं, विंध्यक्षेत्र में राणा छत्रसाल भी कटिबद्ध होते हैं। औरंगजेब की सत्ता को कड़ी चुनौती देने की दृष्टि से यह समय अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसी समय को और समय के संघर्ष को लिपिबद्ध करने का सफल प्रयास डॉ. शत्रुध्न प्रसाद ने किया है। यह उपन्यास सनातनी एकता का भी संदेश देता है- 'अगर हम बँटे रहेंगे तो वे टुकड़े-टुकड़े को झुका देंगे (225)। गुरु तेगबहादुर का यह वाक्य अत्यंत महत्त्वपूर्ण है- ''यह देश पाँच सौ वर्षो से विध्वंस देख रहा है। इसलिए जन की शक्ति को दैवी शक्ति के रूप में उठाकर खड़ा कर देना होगा (221)। गुरु तेगबहादुर का बलिदान सिक्ख पंथ को सनातन का हिस्सा मानने का अकाट्य प्रमाण है। यह उपन्यास अतीत की इस घटना को राष्ट्रीय एकता का संदेश प्रसारित करता है।

'श्रावस्ती का विजय पर्व' इतिहास के एक महत्वपूर्ण और गौरवशाली संघर्ष पर आधारित उपन्यास है। श्रावस्ती के राजा सुहृददेव या सुहेलदेव ने अन्य सत्रह राजाओं को एक मंच पर एकत्र कर महमूद गजनवी के भाँजे सैय्यद सालार मसूद (मसऊद) को बहराइच के युद्ध में पराजित कर उसे मृत्यु लोक में पहुँचा दिया। इसमें उसकी एक लाख से अधिक सेना मारी गयी। इस युद्ध का प्रभाव इतना भीषण था कि उसके बाद एक सौ पचास वर्षों तक कोई भी इस्लामी आक्रमणकारी भारत आने का साहस नहीं कर सका। इसी घटना को आधार बनाकर उपन्यास लिखा गया है 'श्रावस्ती का विजय पर्व'।

श्रावस्ती का भारतीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। एक प्राचीन वैभवशाली नगर के रूप में इसका उल्लेख 'वाल्मीकि रामायण' तथा अन्य पुराणों में मिलता है। श्रावस्ती बौद्ध,

जैन, वैष्णव-तीनों का प्रमुख तीर्थ स्थल रहा है। श्रावस्ती के निकट जेतवन में भागवान बुद्ध ने अधिकांश शिक्षाएँ और प्रवचन दिए थे। जेतवन की गंध कुटी वह जगह थी, जहाँ बुद्ध सर्वाधिक रूके थे। यहाँ निकट में बालार्क (बाल सूर्य) सूर्य मंदिर था। जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थकर भगवान महावीर ने भी श्रावस्ती में विहार किया था। श्रावस्ती अचिरावती (राप्ती) नदी के किनारे बसा था। श्रावस्ती के राजा सुहेलदेव भार शिव नागवंशी शासक थे, जिनके पूर्वजों ने कुषाण शासक को पराजित कर इस पर अधिकार कर लिया था, जिसका विजय प्रतीक काशी का दशाश्वमेघ घाट है।

भारत का इतिहास केवल पराजय का इतिहास नहीं है अपितु संघर्ष और विजय की गाथा भी है। पर पक्षपातपूर्ण दृष्टि के कारण भारत के इतिहास को विकृत किया गया, फल स्वरूप सुहेलदेव के विषय में नगण्य उल्लेख मिलते हैं। विदेशी इतिहासकारों द्वारा सुहेलदेव का उल्लेख केवल बहराइच के युद्ध के संदर्भ में मिलता है। अब्दुर्रहमान चिश्ती कृत 'मिरात-ए-मसूदी' अमीर खुसरो की रचना 'एजाज-ए-खुसरवी' तथा 'तारीख-ए-फरिश्ता' में इस युद्ध के वितरण मिलते हैं। बहराइच का युद्ध 1032, 14 जून, 1033 में हुआ। कुछ इतिहासकारों ने जून 1034 की तिथि का उल्लेख किया है। सुहेलदेव के साथ सालार मसूद की सेना के तीन युद्ध हुए। तीसरे युद्ध में सैय्यद सालार मसूद अपनी एक लाख से अधिक की सेना के साथ मारा गया। हिन्दू पक्ष के भी लाखों सैनिक मारे गए। यह भी उल्लेख मिलता है कि 1385 ई0 में फिरोज शाह तुगलक बहराइच आया और स्थानीय मौलवी के अनुरोध पर उसने सूर्य मंदिर को पटवाकर उस पर पर एक दरगाह बना दी। बाद में वहाँ मेला लगने लगा। सूर्यकुण्ड का मेला दरगाह के मेले में बदल गया और उसमें हिन्दू-मुसलमान दोनों जाने लगे। हिन्दू जनता की इस आत्महीनता को देखकर गोस्वामी तुलसीदास ने अपने समय में कठोर टिप्पणी की थी-

लही आँख कब आँधरें बाँझ पूत कब ल्याइ।
कब कोढ़ी काया लही जग बहराइच जाइ।।

(दोहावली, 496)

ब्हराइच के इस युद्ध, राजा सुहेलदेव की वीरता, अन्य राजाओं को साथ लेने की उनकी क्षमता पर आधारित है यह उपन्यास। यह भी ऐतिहासिक तथ्य है कि सनातन धर्म के सभी वैदिक और अवैदिक सम्प्रदाय इस संघर्ष में एकजुट थे और नाथ सम्प्रदाय के योगियों ने तुर्क आक्रमणकारियों के विरुद्ध जन जागरण का अभियान चलाया था और सभी सम्प्रदायों को एकजुट करने में सफल हुए थे। डॉ. शत्रुध्न प्रसाद ने नाथयोगी चन्द्रनाथ के द्वारा यह कार्य सम्पन्न कराया है- ''हम केवल भारत के हैं। भारत भूमि हमारी मातृभूमि है, हमारा देश और समाज सभी सम्प्रदायो पंथों का महासंग्राम है (86)। सैय्यद सालार मसूद की पराजय और मृत्यु से श्रावस्ती में प्रसन्न्ता छा जाती है। उपन्यासकार का निष्कर्ष है- 'आठवीं' से 'दसवीं' शताब्दी तक भारत हारता रहा। इस बार ईसा की ग्यारहवीं सदी में भारत भूमि विजय से प्रसन्न है (169)

राजभवन के बाहर सम्पूर्ण नगर में विजय घोष गूँज रहा था। तारों और चन्द्र से सजकर आकाश भी प्रमुदित हो रहा था। इस महत्त्वपूर्ण विजय पर (174)।''

इस प्रकार शत्रुध्न प्रसाद ने अतीत के गौरवपूर्ण और पीड़ादायक-दोनों पक्षों को चित्रित करते हुए निरपेक्ष दृष्टि से उनका मूल्यांकन करने का प्रयास किया है। उन्होंने ऐतिहासिक तथ्यों के साथ बिना छेड़छाड़ किए यह कार्य सम्पन्न किया है। उनके उपन्यास अतीत को वर्तमान से जोड़ने के प्रयास हैं। उनके उपन्यासों के विश्लेषण से कुछ विशषताएँ पाठकों के समक्ष आती हैं।

डॉ. शत्रुध्न प्रसाद के उपन्यासों में राष्ट्रीय सांस्कृतिक पक्ष का प्रगतिशील रूप दृष्टिगोचर होता है। 'सरस्वती सदारनीरा' में सिंधु-सरस्वती, संस्कृति तथा कीकट संस्कृति को एक सूत्र में पिरो दिया गया है। शत्रुध्न प्रसाद जी हिमालय के दक्षिण और समुद्र के उत्तर में स्थित भौगोलिक क्षेत्र को एक राष्ट्र के रूप में देखते हैं, वे एक जन, एक संस्कृति में विश्वास करते हैं। उनकी दृष्टि में एकत्व में वैविध्य इसका वैशिष्ट्य है और उसमें किसी प्रकार का अन्तर्विरोध नहीं है। अद्वैतवादी चिंतन एक एकत्व का आधार है। याज्ञवल्क्य की समन्वित दृष्टि का विकास स्वामी विधारण्य और कबीरदास मे दिखायी देता है। वैदिक और व्रात्य का समन्वय ही गोस्वामी तुलसीदास का शैव-वैष्णव समन्वय है। शत्रुध्न प्रसाद की प्रगतिशीलता मार्क्सवादी प्रगतिवादी चेतना का पर्याय नहीं है। राष्ट्रीयता एवं संस्कृति के बाधक तत्वों को दूर कर समत्व की मूल भित्ति पर सांस्कृतिक भवन खड़ा करना लेखक का उद्देश्य है। डॉ. शत्रुध्न प्रसाद के उपन्यासों के पात्र- याज्ञवल्क्य, विक्रमादित्य, हरिहर और बुक्का, स्वामी विद्यारण्य, कबीरदास, महाराणा प्रताप, हेमू, दारा शिकोह संत सरमद, उधोदास, गुरू तेगबहादुर, कुमार महेन्द्र, कोटा देवी, आनन्द भिक्षु, सुहेलदेव राष्ट्रीय-सांस्कृतिक एकत्व के प्रतीक हैं।

डॉ. शत्रुध्न प्रसाद के उपन्यास सामाजिक धार्मिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक समन्वय का आधार तैयार करते हैं। वैछिक रूद्र और व्रात्य शिव का समन्वय कुमार विषमशील द्वारा गण संघों में समन्वय, स्वामी विद्यारण्य के प्रयास से सभी सम्प्रदायों द्वारा अद्वैत चिंतन का स्वीकार, 'अरावली का मुक्त शिखर' में पिछड़े एवं आदिवासी वर्ग में विवाह द्वारा सामाजिक समन्वय, शक समुदाय का भारतीय समाज में विलय इसके अन्यतम उदाहरण हैं। अपने उपन्यासों में डॉ. शत्रुध्न प्रसाद ने इस विश्वास को दृढ़ता से अभिव्यक्त किया है कि सामाजिक समरस्ता अद्वैत दृष्टि से ही संभव है। उनका मानना है कि अद्वैत दृष्टि से दूर हो जाने के कारण ही समाज विखंडित हुआ और फलस्वरूप राष्ट्र दुर्बल। 'तुंगभद्रा पर सूर्योदय' के स्वामी विद्यारण्य, 'सुनो भाई साधो' के कबीरदास, 'श्रावस्ती का विजय पर्व' के नाथयोगी चन्द्रनाथ, 'दारा शिकोहः दहशत का दंश' के दाराशिकोह आदि के माध्यम से समाज में समतावादी अद्धैत भाव की प्रतिष्ठा लेखक का उद्देश्य है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि डॉ. शत्रुध्न प्रसाद एक राष्ट्रवादी रचनाकार हैं। उन्होंने राष्ट्र को सर्वोपरि माना है। इसलिए इसके उपन्यासों में राष्ट्रीयता की प्रखर अभिव्यक्ति

हुई है। पर डॉ. शत्रुध्न प्रसाद की राष्ट्रीयता भाषा, जाति और मजहब पर आधृत संकीर्ण राष्ट्रीयता नहीं है। उसमें भू-सांस्कृतिक राष्ट्रीयता की प्रतिष्ठा है।

शत्रुध्न प्रसाद ने अपने उपन्यासों में स्त्री अस्मिता की रक्षा पर विशेष बल दिया है, उसके शक्तिरूपा व्यक्तित्व को महत्त्व दिया है। 'अरावली का मुक्त शिखर' में जोधाबाई का द्वन्द्व इसका प्रमाण है। डॉ. प्रसाद ने मुगलों की युद्ध में बंदी बनायी गयी स्त्री को 'मोल गनीमत' समझने की वृत्ति की निंदा की है। रहीम की पत्नी यास्मीन को ससम्मान रहीम के पास पहुँचा देने का वृतांत स्त्री अस्मिता की रक्षा का उदाहरण है। शाहमीर के हाथों पड़ने के पहले ही 'कश्मीर की बेटी' कोटा देवी द्वारा की गयी आत्महत्या स्त्री सम्मान की रक्षा का ही प्रमाण है। डूँगरपुर की राजकुमारी का अकबर के सैनिकों की कैद से निकल जाने का प्रसंग स्त्री अस्मिता की रक्षा का ही प्रमाण है। महाराणा प्रताप के कथन के माध्यम से शत्रुध्न प्रसाद ने अपने दृष्टिकोण का परिचय दिया है- ''यदि स्त्री के जीवन में मात्र काम और श्रृंगार की प्रबल हों तो मन निर्बल होगा। यदि जीवन में काम रागतत्व बनकर भूमि माँ भूमिपुत्र और इन दोनों की स्वाधीनता एवं स्वतंत्रता के लिए विचार करने लगे तो मन सबल होगा। यदि काम, प्रेम के रूप में प्रिय, परिवार तथा संतान के लिए समर्पित हो तो मन ऊँचा होता जाएगा..... माँ दुर्गा के चामुंडा के रूप में बलात् विवाह करने वाले अपरहण की धमकी देने वाले शुम्भ-निशुम्भ को चुनौती देकर युद्ध में मारा था। दुर्गा का यह रूप नारी शक्ति का प्रज्वलित रूप है। यह अभिनन्दनीय है। नारी अपने प्रतिष्ठापूर्ण अस्तित्व के लिए सबल हो। स्वाभिमान की चेतना से सम्पन्न हो (209)।''

शत्रुध्न प्रसाद के उपन्यासों में पुरुषार्थ और कर्म तथा मनुष्यता की स्थापना का स्पष्ट संदेश है। शत्रुध्न प्रसाद जन्मना वर्ण-व्यवस्था को अस्वीकार करते हैं। 'सरस्वती सदानीरा' में याज्ञवल्क्य जनक से कहते हैं- वर्ण-व्यवस्था भी कर्मणा ही रहे (185) जन्मना और कर्मणा में एक समन्वय लाया जा सकता है। विषमता को दूर करने के लिए एक परम चेतना, एक सदाशिव और एक पुरुष का भाव-संस्कार लाना होगा। वर्णगत अहं और दंभ को पाप माना जायेगा'' (279)। कर्मणा वर्ा व्यवस्था का पक्ष लेकर डॉ. शत्रुध्न प्रसाद ने व्यापक मानवता का संदेश दिया है। 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' का गन्तव्य भी यही है। वस्तुतः शत्रुध्न प्रसाद के उपन्यास यद्यपि इतिहास की विभिन्न घटनाओं पर आधारित है पर उनका लक्ष्य वर्तमान की विसंगतियों से समाज को मुक्त कर एक राष्ट्र, एक जन, और एक संस्कृति की स्थापना है।

डॉ. सदानन्द प्रसाद गुप्त

✧ ✧ ✧

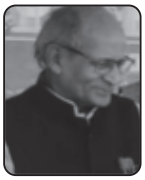

हिन्दी साहित्य की समृद्धि में मुस्लिम कवियों का योगदान

रामबाबू नीरव

भक्ति काव्य धारा को आगे बढ़ाने में अमीर खुसरो के बाद मल्लिका मुहम्मद जायसी का नाम आता है। भक्ति काल के मूर्धन्य कवियों में से एक जायसी भी थे। भक्ति काल की परंपरा को आगे बढ़ाने में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। पद्मावत, अखावट और आखिरी कलाम इनकी महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं। इनका पद्मावत महाकाव्य विश्वविख्यात कृतियों में से एक है। मूल रूप से यह एक प्रेम कथा है। जिसमें जायसी ने राजा रत्न सेन और रानी पद्मावती के लौकिक प्रेम को अलौकिक प्रेम से जोड़ा है, जो ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग है। जायसी ने ही सर्वप्रथम साहित्य में प्रेम को स्थान दिया। जो धीरे-धीरे परवान चढ़ने लगा। इनके बाद के साहित्य में प्रेम (श्रृंगार रस) की अनुपम धारा प्रवाहित होने लगी। जायसी के बाद रसखान ने इस अलौकिक प्रेम को अपनी काव्यकृतियों में चित्रित किया। इसलिए ही इन्हें रस का खान कहा जाता है।

मात्र हिन्दी साहित्य ही नहीं, बल्कि भारतीय इतिहास, कला और संस्कृति को भी समृद्ध करने में मुस्लिम सूफी (संत) कवियों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इन सूफी कवियों ने अपनी कृतियों के द्वारा मात्र धार्मिक सद्भाव और प्रेम का ही संदेश नहीं दिया, बल्कि अपनी अनुपम कृतियों द्वारा हिन्दी साहित्य भंडार को लबालब भर भी दिया है। इन कवियों का अधिकांश जोर प्रेम पर था। उन कवियों की दृष्टि में प्रेम ही वह सार्वभौम शक्ति है, जिसके माध्यम से ईश्वर तक पहुँचा जा सकता है, अथवा ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए इन कवियों ने अपनी कृतियों में प्रेम (श्रृंगार रस) को ही सर्वोच्च स्थान दिया।

हिन्दी अथवा हिन्दवी साहित्य का उद्भव काल अवधी अथवा ब्रज भाषा के रूप में तेरहवीं शताब्दी को माना जा सकता है। इसी काल में भारत भूमि पर एक ऐसे सूफी कवि का जन्म हुआ था, जिसने न सिर्फ साहित्य के क्षेत्र में बल्कि भारतीय शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में भी एक चमत्कार कर दिखाया था। उस सूफी कवि का नाम था अमीर खुसरो। उस अजीम शायर को लोग 'तूतीय हिन्द' यानि भारत का तोता के नाम से भी पुकारा करते थे। ये विख्यात सूफी निजामुद्दीन औलिया के शागिर्द थे। इन्हें हिन्दी (प्राचीन हिन्दी) का

जनक माना जाता है। तब हिन्दी का स्वरूप आज के जैसा परिष्कृत नहीं था। (बाद में हिन्दी साहित्य के पुरोधा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने खड़ी बोली का आविष्कार कर हिन्दी को नया स्वरूप प्रदान किया)। उन दिनों अवधी और ब्रजभाषा में तथा मिथिला और बज्जिका क्षेत्र में मैथिली और बज्जिका भाषा में साहित्य सृजन हो रहे थे। ये सभी भाषाएँ हिन्दी के ही रूप हैं। मुस्लिम सूफी कवियों के साथ साथ अन्य हिन्दू कवियों ने भी ब्रजभाषा और अवधी में ही ऐसे ऐसे ग्रंथों की रचना की, जो हिन्दी साहित्य के साथ-साथ हिन्दू संस्कृति की भी बहुमूल्य निधि बन गई। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी रामचरित मानस की रचना अवधी भाषा में ही की है।

यहाँ बात हो रही है अमीर खुसरो की। उन्होंने ऐसी सहज, सरल और सुबोध भाषा में साहित्य सृजन किया जो आम बोलचाल की भाषा थी। या यों कहें कि जनसाधारण की भाषा थी। इसके साथ ही उन्होंने काव्य में नयी-नयी विधाओं का आविष्कार भी किया। काव्य की उन्हीं विधाओं में से एक है। 'कह मुकरी' यह अनोखी विधा चार पंक्तियों वाली एक पहेली शैली है, जिसमें दो सखियाँ आपस में पहेली बुझाती है, दूसरी सखि बताती है साजन परंतु पहली सखी अपनी कही हुई बात से मुकर जाती है और प्रतिउत्तर में दूसरा ही कुछ बताती है। इसलिए इस विधा का नाम कह मुकरी पड़ा। बाद में भारतेंदु हरिश्चंद्र ने भी इस विधा को अपनाया और अनेक मुकरियाँ लिखी। आधुनिक कवि तो जानते भी नहीं कि कह मुकरी क्या है? खुसरो की कुछ मुकरियाँ देखें -

'खा गया, पी गया दे गया बुत्ता,
ए सखि साजन, ना सखि कुत्ता।'
'लिपट लिपट के वाकी सोई
छाती से छाती लगा के रोई
दाँत से दाँत लगा के ताड़ा
ए सखि साजन, ना सखि जाड़ा।'

जब खुसरो भक्ति सागर में डुबकी लगाते हैं, तब ईश्वर के साथ किस तरह की प्रीत जोड़ लेते हैं, जरा देखिए -

'छाप तिलक छीन लिन्हीं रे मो से नैना मिलाके
प्रेमवटी का मदवा पिलाके
मतवारी कर दीन्हीं रे
मो से नैना मिलाके।
खुसरो निजाम पे
बलि बलि जइए
मोहे सुहागन कर दीन्ही रे मो से नैना मिला के।'

कुछ विद्वानों का मानना है कि दोहा विधा के जनक भी अमीर खुसरो ही थे। बाद में इस विधा को संत कबीर, संत रैदास, बिहारीलाल, रहीम खानखाना तथा ध्रुवदास जैसे संत कवियों ने आगे बढ़ाया. दोहा अर्द्धसत्य मात्रिक छंद है, जिसमें दो पंक्तियों में ही पूरी बात कह दी जाती है। अमीर खुसरो के कुछ दोहे देखें -

'खुसरो दरिया प्रेम का उल्टी वाकी धार,
जो उबरा हो डूब गया जो डूबा सो पार।'
'खुसरो रैन सुहाग की जाएगी पी के संग,
तन मेरो, मन पियो को दोऊ भयो एक रंग।'

अमीर खुसरो मात्र कवि ही नहीं थे, बल्कि सिद्धहस्त संगीत साधक भी थे। उन्होंने भारतीय शास्त्रीय संगीत को एक नई दिशा दी। माना जाता है कि सितार और तबला का आविष्कार अमीर

अब हम आते हैं रीति काल में। इस काल में भी अनेक मुस्लिम सूफी कवि हुए हैं, लेकिन उसमें सबसे चर्चित कवि हैं आलम शेख। इन्हें लोग शेख उल आलम के नाम से भी जानते हैं। विद्वानों का मानना है कि शेख आलम पहले हिन्दू धर्मावलंबी थे और इनका नाम पं० लालमणि त्रिपाठी था। ये आरंभ में मुगल बादशाह औरंगजेब के पुत्र मुअज्जम शाह के आश्रित थे। इनके बारे में एक बड़ी ही रोचक कथा विख्यात है। इनके पड़ोस में एक रंगरेज शेख रहा करता था। उस रंगरेज शेख की एक बेटी थी, जिसका नाम था शेख। वह बड़ी खुबसूरत थी। साथ ही वह यदा-कदा कवित्त (कविता लेखन) भी कर लिया करती थी। लोग उसे शेख रंगरेजिन के नाम से पुकारा करते थे। एक दिन त्रिपाठी जी ने उसे अपना एक चादर रंगने के लिए दिया। उस समय चादर के एक वरिष्ठ खूँट में एक पर्ची बंधी हुई थी। शेख रंगरेजिन उस पर्ची को खोलकर पढ़ने लगी।

खुसरो ने ही किया था। इसके साथ ही उन्हें कई रागों का जनक भी माना जाता है। वे लोक भाषा में रचित अपने गीतों को स्वयं ही संगीतबद्ध किया करते थे और राग के साथ गाया करते थे। फारसी के साथ हिन्दी का मिश्रण करके उन्होंने एक नई शैली विकसित की। जरा इस गीत को देखिए -

'जिहाल-ए-मिस्कीं मकुन तगाफुल (फारसी)
दुराए नैना बनाए बतिया (ब्रज/हिन्दी)

इस गीत का पहला मिसरा फारसी में है और दूसरा मिसरा ब्रज यानी हिन्दी में। इसी गीत को फिल्म दुनिया के सुप्रसिद्ध गीतकार गुलजार साहब ने कुछ तरह से परिमार्जित किया -

'जिहाले-ए-मिस्कीं मुकुन बरंजिश बेहाल-ए-हिजरा बेचारा दिल है।
सुनाई देती है जिसकी धड़कन तुम्हारा दिल या हमारा दिल है।'

इस गीत को फिल्म गुलामी के लिए अनिता राज और मिथुन चक्रवर्ती पर फिल्माया गया था। भक्ति काव्य धारा को आगे बढ़ाने में अमीर खुसरो के बाद मल्लिका मुहम्मद जायसी का नाम आता है। भक्ति काल के मूर्धन्य कवियों में से एक जायसी भी थे। भक्ति काल की परंपरा को आगे बढ़ाने में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। पद्मावत, अखावट और आखिरी कलाम इनकी महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं। इनका पद्मावत महाकाव्य विश्वविख्यात कृतियों में से एक है। मूल रूप से यह एक प्रेम कथा है। जिसमें जायसी ने राजा रत्न सेन और रानी पद्मावती के लौकिक प्रेम को अलौकिक प्रेम से जोड़ा है, जो ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग है। जायसी ने ही सर्वप्रथम साहित्य में प्रेम को स्थान दिया। जो धीरे-धीरे परवान चढ़ने लगा। इनके बाद के साहित्य में प्रेम (श्रृंगार रस) की अनुपम धारा प्रवाहित होने लगी। जायसी के बाद रसखान ने इस अलौकिक प्रेम को अपनी काव्यकृतियों में चित्रित किया। इसलिए ही इन्हें रस का खान कहा जाता है। वैसे इनका मूल नाम सैयद इब्राहिम था। इन्होंने स्वामी विट्ठलनाथ से दीक्षा लेने के बाद कृष्ण भक्ति में डूबकर 'प्रेम वाटिका' और 'सुजान रसखान' जैसी अमर कृतियों की रचना की। इनकी रचनाओं में भक्ति रस के साथ-साथ श्रृंगार रस की भी प्रधानता देखी जा सकती है। राधा-कृष्ण के सात्विक प्रेम के माध्यम से ये ईश्वर को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। अपनी भक्ति तथा सात्विक प्रेम को इन्होंने अपनी कृति 'कान्हावत' में बड़े ही रोचक और मनोहारी भाव से व्यक्त किया है।

अब हम आते हैं रीति काल में। इस काल में भी अनेक मुस्लिम सूफी कवि हुए हैं, लेकिन उसमें सबसे चर्चित कवि हैं आलम शेख। इन्हें लोग शेख उल आलम के नाम से भी जानते हैं। विद्वानों का मानना है कि शेख आलम पहले हिन्दू धर्मावलंबी थे और इनका नाम पं० लालमणि त्रिपाठी था। ये आरंभ में मुगल बादशाह औरंगजेब के पुत्र मुअज्जम शाह के आश्रित थे। इनके बारे में एक बड़ी ही रोचक कथा विख्यात है। इनके पड़ोस में एक रंगरेज शेख रहा करता था। उस रंगरेज से की एक बेटी थी, जिसका नाम था शेख। वह बड़ी खुबसूरत थी। साथ ही वह यदा-कदा कवित्त (कविता लेखन) भी कर लिया करती थी। लोग उसे शेख रंगरेजिन के नाम से पुकारा करते थे। एक दिन त्रिपाठी जी ने उसे अपना एक चादर रंगने के लिए दिया। उस समय चादर के एक वरिष्ठ खूँट में एक पर्ची बंधी हुई थी। शेख रंगरेजिन उस पर्ची को खोलकर पढ़ने लगी। उस पर्ची पर एक मिसरे की कवित्त लिखी थी -

'कनक छरी सी कामिनी काहे को कटि छीन।' शेख रंगरेजिन ने दूसरा मिसरा इस प्रकार लिखा - 'कटि कंचन को कुचन मध्य धरि दीन।' और चादर के खूंट में बांध दिया। त्रिपाठी जी अपनी चादर ले गये और खूँट से बंधी हुई पर्ची को निकाल कर पढ़ने लगे। अब पूरा छंद इस प्रकार से था -

'कनक छरी सी कामिनी काहे को कटि छीन,
कटि कंचन को कुचन मध्य धरि दीन।'

अब तो पंडित जी निहाल हो गये। उन्होंने रंगरेज से उनकी बेटी का हाथ मांगा। रंगरेज इस शर्त पर अपनी बेटी त्रिपाठी जी को देने पर राजी हुए कि उन्हें इस्लाम धर्म कबूल करना होगा। शेख रंगरेजिन के प्रेम में पागल हो चुके पं० लालमणि त्रिपाठी ने तत्क्षण ही इस्लाम धर्म कबूल करके शेख रंगरेजिन को अपनी बेगम बना लिया और अपना नाम शेख आलम रख लिया। कुछ विद्वानों का मानना है कि शेख आलम अपनी पत्नी शेख रंगरेजिन के साथ मिलकर रचनाएँ किया करते थे। मगर अधिकांश विद्वान इसे नकार देते हैं। अब सच्चाई चाहे जो भी हो मगर आलम शेख ने हिन्दी साहित्य को बहुमूल्य कृतियाँ दी है, इससे इंकार नहीं किया जा सकता।

उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं - माधवानल कामकंदला, रागमाला, श्याम सनेही, आलम के कवित्त, शेख साईं (इसे शेख रंगरेजिन की कृति माना जाता है।) तथा सुदामा चरित। कुछ विद्वान माधवानल कामकंदला को एक दूसरे आलम शेख की रचना मानते हैं, जो इस आलम शेख से बहुत पूर्व यानी बादशाह अकबर के समय में हो चुके थे। परंतु अधिकांश विद्वान इस तर्क को नकार देते हैं।

ऐसे मुस्लिम सूफी कवि अनगिनत हैं, जिन्होंने राधा कृष्ण के प्रेम सागर में डूबकर अनेक ग्रंथों की रचना की सिर्फ इतना ही नहीं मुगल बादशाह अकबर ने अपने एक दरबारी मुल्ला अब्दुल कादिर बदायुनी से वाल्मीकि रामायण का फारसी में अनुवाद करवाकर हिन्दू-मुस्लिम एकता को अक्षुण्ण बनाए रखने की पुरजोर कोशिश की। अब्दुल कादिर संस्कृत और अवधी (हिन्दी) के साथ-साथ फारसी और अरबी के भी प्रकांड विद्वान थे। इसी तरह मुगल बादशाह शाहजहाँ के बड़े पुत्र और औरंगजेब के बड़े भाई दारा शिकोह ने भी खुद रामायण का फारसी में अनुवाद किया था। दारा शिकोह भी संस्कृत और फारसी का उद्भट विद्वान था। इस तरह हम देखते हैं कि मुस्लिम सूफी कवियों ने बिना किसी भेदभाव के हिन्दी साहित्य के साथ-साथ भारतीय संस्कृति को भी शिखर तक पहुँचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। हमें उन सूफियों की तपस्या और त्याग को नजर अंदाज नहीं करना चाहिए।

रामबाबू नीरव, वरिष्ठ कथाकार, संपादक, शारदा निकेतन, जैतपुर, पुपरी, पो० - जनकपुर रोड, सीतामढ़ी (बिहार) - 843320, मो० : 9801779842

✧ ✧ ✧

हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में हिन्दी की प्रमुख साहित्यिक पत्रिकाओं की भूमिका

डॉ. दीपा श्रीवास्तव

साहित्यिक पत्रिकाएँ हमारा मनोरंजन ही नहीं करतीं बल्कि जीवन मूल्यों की राह भी दिखाती हैं। ये अतीत की नींव पर वर्तमान को आधार बनाकर भविष्य की रूप रेखा निर्धारित करती हैं और विषम से विषम परिस्थितियों में भी हमारा मार्ग दर्शन करने की क्षमता रखतीं हैं।

साहित्यिक पत्रकारिता की यह उज्ज्वल परंपरा भारतेंदु युग से लेकर अद्यतन जारी है। भाषा शैली और काव्यात्मकता को समयानुकूल ढालने में साहित्यिक पत्रकारिता का अभूतपूर्व योगदान है। वैचारिक नवीनता, प्रयोगधर्मिता, शैलीगत नूतनता आदि को स्थापित करने का श्रेय स्वातंत्र्योत्तर साहित्यिक पत्रकारिता को जाता है। आज सूचना प्रौद्योगिकी और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के युग में भी साहित्यिक पत्रिकाएँ अपना मार्ग प्रशस्त करने में सफल रहीं हैं क्योंकि दृश्य माध्यमों का प्रभाव क्षणिक होता है लेकिन श्रव्य माध्यमों का प्रभाव चिरस्थायी होता है।

साहित्यिक पत्रिकाएँ भाषा - विकास, नव्य प्रयोगों और मानवीय मूल्यों से निर्मित युगीन चेतना को प्रतिबिम्बित करने तथा लोक कल्याण की भावना का संचार करने का सशक्त माध्यम होती हैं। हिंदी साहित्य के इतिहास में साहित्यिक पत्रकारिता की सुदीर्घ परंपरा है। भारतेंदु युगीन पत्रिकाओं ने भाषा को निखारने की दिशा में सराहनीय प्रयास किए। द्विवेदी युग में पत्रकारिता की शैली में बदलाव और भाषा तथा व्याकरण की शुद्धता पर बल दिया गया। छायावाद युगीन साहित्यिक पत्रिकाओं ने हिंदी की समृद्धि, स्वतंत्रता आंदोलन को वैचारिक समर्थन तथा साहित्यिक योजनाओं को शिखर तक पहुँचाने के साथ भाषा को नया संस्कार देने का महती कार्य किया। मैथिली शरण गुप्त, प्रेमचंद और महादेवी वर्मा जैसे साहित्यकारों और अनेक कालजयी रचनाओं के प्रकाशन का श्रेय इन्हें जाता है। अनेक काव्य आंदोलनों के उद्‌भव और विकास का मूलाधार एवं नयी विधाओं की प्रेरणा भी ये पत्रिकाएँ रहीं हैं।

साहित्यिक पत्रिकाएँ भी साहित्य की तरह उस मशाल के सदृश हैं, जो मानवता का मार्ग आलोकित करती हैं। आज भी हिंदी में उत्कृष्ट साहित्यिक पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रहीं हैं। यह उज्ज्वल परंपरा सोशल मीडिया के विविध रूपों में भी प्रचलित है और अनेक वेबसाइट्स तथा ब्लॉग भी इसे बढ़ावा दे रहे हैं। इस नए अवतार में भी उच्चकोटि के कटेंट

के माध्यम से ये जीवन-मूल्यों की व्याख्या करते हुए मानव को वर्तमान का आधार तथा भविष्य का चिंतन प्रदान करने में संलग्न हैं। हिंदी भाषा-शैली और कथ्यात्मकता को समयानुकूल बनाकर हिंदी साहित्य के उन्नयन में इन्होंने जो अवदान दिया, वह अविस्मरणीय है।

बीज शब्द : साहित्यिक पत्रकारिता, हिंदी साहित्य, हिंदी भाषा, विकास

भूमिका

साहित्य यदि जातीय उत्थान, भाषा विकास, नव्य प्रयोगों और मानवीय मूल्यों से निर्मित युगीन चेतना का समन्वित रूप होता है, तो साहित्यिक पत्रिकाएँ साहित्य के विकास - क्रम को दर्शाने का सजीव माध्यम होती हैं। ये जीवन को गति प्रदान करती हैं। इनमें अनुभूत जीवन का उत्कृष्ट वर्णन होता है। इन पत्रिकाओं का लक्ष्य रचनात्मक प्रतिभा को उभारना और सामाजिक तथा साहित्यिक गतिविधियों को पहचान प्रदान करना होता है। जो जीवन - मूल्य साहित्य में सिद्धांत रूप में वर्णित होते हैं, उन्हीं जीवन मूल्यों को साहित्यिक पत्रिकाएँ व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करती हैं। समाज में लोक कल्याण की भावना को स्थापित करना साहित्य का उद्देश्य है और साहित्यिक पत्रिकाएँ इस उद्देश्य की संवाहिका होती हैं।

कैलाश नाथ पांडेय ने डॉ. राम मोहन पाठक के शब्दों को उद्धृत करते हुए लिखा है- ''साहित्य और पत्रकारिता में कोई अंतर नहीं है। अंतर है तो केवल शैली का। जिसे हम साहित्य कहते हैं, साहित्य काफी चिंतन - मनन के बाद लिखा जाता है और पत्रकारिता शीघ्रता में लिखा गया साहित्य ही है। दरअसल, साहित्य और पत्रकारिता दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं।''

(पाण्डेय, 2014. पृ-367)

1947 ई. के पूर्व की साहित्यिक पत्रिकाओं के प्रकाशन का उद्देश्य जनता को जागरूक बनाना था। राष्ट्रीय चेतना से समन्वित होकर इन पत्रिकाओं का स्वरूप और निखर गया था। 'सरस्वती', 'इंदु', 'मतवाला', 'चाँद', 'हंस', 'रूपाभ' आदि साहित्यिक पत्रिकाओं में प्रकाशित रचनाएँ साहित्यिक - दृष्टि से तो उत्कृष्ट थीं ही साथ ही स्वाधीनता संग्राम में भी प्रेरक बनीं। इन पत्रिकाओं ने साहित्य लेखन के सार्थक पक्ष को उभारने के साथ-साथ उनके सामाजिक-सांस्कृतिक उत्थान को स्वतंत्रता संघर्ष से जोड़ने का सार्थक प्रयास भी किया। हिंदी की प्रमुख साहित्यिक पत्रिकाएँ - 'कविवचन सुधा', 'हरिश्चंद्र मैगजीन', 'बाला बोधिनी', 'चाँद', 'हंस', 'इंदु' आदि ने हिंदी साहित्य की विविध विधाओं के विकास और संवर्द्धन में उत्कृष्ट योगदान दिया है। कविता, कहानी, उपन्यास, निबंध, नाटक, आलोचना, यात्रा वृत्तांत, जीवनी, आत्मकथा, रेखाचित्र, संस्मरण और शोध से संबंधित आलेखों का नियमित प्रकाशन कर हिंदी साहित्य की अभिवृद्धि में इन्होंने अविस्मरणीय भूमिका निभायी है। अनेक काव्य 7 आंदोलनों और वादों का उद्‌भव तथा विकास इन्हीं की देन है। सामाजिक व्यवस्था के सफल संचालन में चतुर्थ स्तंभ का दायित्व निर्वहण साहित्यिक पत्रिकाओं ने भाषा, साहित्य तथा संस्कृति के

उन्नयन के द्वारा संपादित किया है। साहित्यिक प्रवृत्तियों एवं अन्य सामाजिक गतिविधियों के कार्यान्वयन में भी इनकी अग्रणी भूमिका रही है। हिंदी साहित्य को जीवंत रखने और हिंदी साहित्य के मशाल को प्रज्वलित रखने का उत्तरदायित्व इन्होंने खूब निभाया है। अनेक श्रेष्ठ रचनाओं के प्रकाशन का श्रेय इन्हें जाता है। मैथिली शरण गुप्त, प्रेमचंद और महादेवी वर्मा सहित कई प्रसिद्ध साहित्यकारों को इन्होंने प्रतिष्ठित किया। साहित्यिक पत्रिकाएँ हमारा मनोरंजन ही नहीं करतीं बल्कि जीवन मूल्यों की राह भी दिखाती हैं। ये अतीत की नींव पर वर्तमान को आधार बनाकर भविष्य की रूप रेखा निर्धारित करती हैं और विषम से विषम परिस्थितियों में भी हमारा मार्ग दर्शन करने की क्षमता रखतीं हैं।

साहित्यिक पत्रकारिता की यह उज्ज्वल परंपरा भारतेंदु युग से लेकर अद्यतन जारी है। भाषा शैली और काव्यात्मकता को समयानुकूल ढालने में साहित्यिक पत्रकारिता का अभूतपूर्व योगदान है। वैचारिक नवीनता, प्रयोगधर्मिता, शैलीगत नूतनता आदि को स्थापित करने का श्रेय स्वातंत्र्योत्तर साहित्यिक पत्रकारिता को जाता है। आज सूचना प्रौद्योगिकी और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के युग में भी साहित्यिक पत्रिकाएँ अपना मार्ग प्रशस्त करने में सफल रहीं हैं क्योंकि दृश्य माध्यमों का प्रभाव क्षणिक होता है लेकिन श्रव्य माध्यमों का प्रभाव चिरस्थायी होता है।

यह बात निसंशनीय कही जा सकती है कि साहित्यिक पत्रिकाओं ने ही आधुनिक हिंदी साहित्य के स्वरूप का सही अर्थों में निर्माण किया है। साहित्यिक पत्रिकाओं के पृष्ठों पर साहित्य अपनी प्रखरता और तेजस्विता के साथ विराजमान है और नित्य नए - नए प्रयोगों से समन्वित होकर हिंदी साहित्य को समृद्ध कर रहा है।

उद्देश्य

मुख्य उद्देश्यः हिंदी साहित्यिक पत्रकारिता ने समय के साथ चलते हुए और नवीनता के आग्रह को अपनाते हुए सामाजिक आवश्यकता के अंतर्गत हिंदी साहित्य के उन्नयन का कार्य अत्यंत तत्परता, वैज्ञानिकता और दूरदृष्टि से किया है। अनेक उतार-चढ़ाव का सामना करते हुए भी इसने न सिर्फ भाषा को परिपक्व किया है बल्कि अनेक साहित्यकारों और साहित्यिक विधाओं को प्रतिष्ठित करने में भी बहुमूल्य योगदान दिया है। हिंदी भाषा और साहित्य के उत्थान में इन पत्रिकाओं की भूमिका को रेखांकित करना इस शोधपत्र का मुख्य उद्देश्य है।

विशिष्ट उद्देश्यः साहित्य हमारे मनोविकारों का परिष्कार करता है। साहित्य से जुड़े रहने का सर्वोत्तम माध्यम साहित्यिक पत्रिकाएँ हैं। आज के सूचना प्रौद्योगिकी के युग में भी युवा वर्ग को उनसे जुड़े रखने का संदेश देना इस शोधपत्र का विशिष्ट उद्देश्य है।

अध्ययन पद्धतिः परियोजना के लिए शोध-प्रविधि की द्वितीयक पद्धति का प्रयोग किया गया है। तथ्यों के संग्रह के लिए पूर्व शोध ग्रंथों, संबंधित पुस्तकों एवं पत्र-पत्रिकाओं की मदद ली गई है।

भारतेंदु युगीन साहित्यिक पत्रिकाएँ

हिंदी पत्रकारिता का आरंभ 30 मई, 1826 ई. को कलकत्ता से प्रकाशित साप्ताहिक हिंदी पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' के प्रकाशन से माना जाता है। युगल किशोर द्वारा संपादित इस पत्र को भारतीय नवजागरण का अग्रदूत कहा जाता है। हिंदी के प्रथम समाचार पत्र का गौरव प्रदान करने के साथ-साथ हिंदी पत्रकारिता की बुनियाद रखने में भी इस पत्र का अप्रतिम योगदान है।

हिंदी साहित्य के इतिहास में भारतेंदु युग की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन है। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने हिंदी पत्रकारिता के विकास में अद्‌भुत योगदान दिया। डॉ. रामचंद्र तिवारी के शब्दों में, ''भारतेंदु का स्थान हिंदी पत्रकारिता के क्षेत्र में अन्यतम है। उन्होंने हिंदी के प्रत्येक अभाव को दूर करने की भरपूर चेष्टा की। 'कविवचनसुधा' के प्रकाशन से लेकर भारतेंदु के अस्त होने तक हिंदी पत्रकारिता के विकास का दूसरा उत्थान (1868-1885) पूरा हो जाता है। इस अवधि में हिंदी भाषा का रूप स्थिर और परिमार्जित हुआ, जागरण और सुधार की भावना का प्रसार हुआ तथा अनेक वर्णों और धर्मों में विभाजित भारतवासियों ने अपने जाति - वर्ग के उत्थान के लिए जातीय और धार्मिक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन आरंभ किया। क्रमशः पत्र-पत्रिकाओं में गम्भीर लेख निकलने लगे और कुछ साहित्यिक पत्रिकाओं का प्रकाशन भी हुआ। इनके माध्यम से राष्ट्रीय चेतना भी अधिक प्रखर रूप में सामने आयी।''

(तिवारी, 1993, 481)

1873 ई. में भारतेंदु ने 'हरिश्चंद्र मैगजीन' का प्रकाशन प्रारंभ किया। 'बालाबोधिनी' एक अन्य पत्रिका थी, जिसका प्रकाशन भी भारतेंदु द्वारा हुआ। 'कविवचन सुधा' हिंदी नवजागरण का प्रतीक थी, तो 'बालाबोधिनी' ने स्त्री - शिक्षा सुधार के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान दिया। इसी युग में प्रकाशित 'हिंदी प्रदीप', 'आनंद कादम्बिनी', 'ब्राह्मण', 'भारतोदय' आदि पत्रों ने पत्रकारिता के क्षेत्र में हिंदी को स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। भारतेंदु युगीन हिंदी पत्रिकाओं का मुख्य स्वर राष्ट्रीय चेतना, जन-जागरण, किसी भी प्रकार के अन्याय का प्रतिकार, मातृभूमि का सम्मान, शिक्षा का प्रसार और सामाजिक बुराइयों की निन्दा है। इस काल की पत्रकारिता का फलक भी अत्यंत विशाल है। ब्रह्म समाज, रामकृष्ण परमहंस और विवेकानंद के विचारों तथा थियोसॉफिकल सोसाइटी के सिद्धान्तों ने भी भारतेंदु युगीन पत्रकारिता पर अपना स्पष्ट प्रभाव डाला। मुद्रण यंत्रों के विस्तार ने समाचार पत्रों के प्रकाशन को सहज बनाकर इस युग की पत्रकारिता को और अधिक पुष्पित पल्लवित किया। भारतेंदु युग की पत्रकारिता नारी-शिक्षा, विधवा-विवाह, अस्पृश्यता, धार्मिक सहिष्णुता, समन्वय भावना, विदेशी शासन, पश्चिमी सभ्यता तथा सुधारवादी जीवन दृष्टि से समन्वित तो है ही, भाषा परिष्कार, वाक्य विन्यास और भाषा की मूल जातीय प्रवृत्ति की दृष्टि से भी प्रौढ़ है। डॉ. राजेन्द्र शर्मा लिखते हैं - ''हिंदी पत्रकार कला का प्रारंभ यों तो विद्वान 30 मई, सन् 1826 से मानते हैं, जिस दिन हिंदी का प्रथम समाचार पत्र 'उदन्त मार्तंड' निकला, किंतु हिंदी पत्रकार कला का वास्तविक प्रारंभ सन् 1868 से माना जाता है, जब भारतेंदु द्वारा संपादित 'कविवचन सुधा' का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। इससे पूर्व हिंदी में जितने भी पत्र निकलते थे, उनकी निश्चित शैली नहीं थी।''

भारतेंदु युगीन पत्रिकाओं ने देश के पुनर्जागरण और राष्ट्रीय भावनाओं के प्रचार-प्रसार के साथ भाषा को निखारने की दिशा में भी इन पत्रिकाओं ने सराहनीय प्रयास किए। इन्होंने हिंदी के अनेक साहित्यकारों और निबंध विधा को स्थापित करने में प्रचूर सहयोग दिया।

द्विवेदी युगीन साहित्यिक पत्रिकाएँ

हिंदी की साहित्यिक पत्रिकाओं में 'सरस्वती' का स्थान अन्यतम है। महावीर प्रसाद द्विवेदी के संपादन में इसका प्रकाशन (1903-1920 ई.) हिंदी पत्रकारिता जगत में एक क्रांतिकारी कदम था। द्विवेदी जी ने इसके माध्यम से न सिर्फ खड़ी बोली को प्रतिष्ठित किया बल्कि खड़ी बोली के परिमार्जन में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी और अनेक महान साहित्यकारों के दिशा निर्देशक बने। भाषा और व्याकरण संबंधी टिप्पणियों के अतिरिक्त इसने अनेक उदीयमान साहित्यकारों को आधारभूमि प्रदान की तथा अनेक साहित्यिक विधाओं को भी स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इसने विदेशी साहित्य से हिंदी पाठकों को परिचित कराया। 'उसने कहा था', 'पंचपरमेश्वर' जैसी अनेक कालजयी रचनाओं का प्रकाशन 'सरस्वती' में हुआ। हिंदी भाषा और साहित्य के उत्थान में 'सरस्वती' ने जो योगदान दिया है, वह दुर्लभ है। 'सरस्वती' अपने जमाने की ज्ञाननिधि ही नहीं, हिंदी साहित्य की प्रेरक और हिंदी भाषा की संस्कारिक पत्रिका थी।

द्विवेदी युगीन कुछ प्रमुख पत्रकार एवं पत्रिकाएँ निम्नलिखित है :-

'समालोचक' (1902, जयपुर, सं0 - चन्द्रधर शर्मा गुलेरी), 'अभ्युदय' (1907, प्रयाग, सं0 - मदन मोहन मालवीय), 'इंदु' (1909, लाहौर), 'हिंदकेसरी' (1907), 'स्वराज' (1907), 'प्रताप' (1913, सं0 - गणेश शंकर विद्यार्थी), 'प्रभा' (1913, सं0- कालूराम, नवीन, माखनलाल चतुर्वेदी), 'चाँद' (1920, सं0- रामरख सहगल, चंडी प्रसाद, महादेवी वर्मा) ।

द्विवेदी युग के प्रमुख पत्रकारों में प्रसिद्ध पत्रकार माधवराव सप्रे थे, जो मराठी भाषी थे परंतु उन्होंने अनेक पत्रों का संपादन किया। 1900 ई. में ये 'छत्तीसगढ़ मित्र' के संपादक बने। इनकी प्रसिद्ध कहानी 'एक टोकरी मिट्टी' इसी पत्र में 1901 ई. में प्रकाशित हुई थी। यह हिंदी का पहला समालोचनात्मक पत्र था। 1907 ई. में इन्होंने नागपुर से निकलने वाले 'हिंद केसरी' नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन किया। 1920 ई. में प्रकाशित माखनलाल चतुर्वेदी के 'कर्मवीर' साप्ताहिक पत्र के पीछे सारी प्रेरणा सप्रे जी की थी।

इस युग के साहित्य को समृद्ध बनाने एवं भाषा का परिष्कार करने में युगीन पत्रिकाओं का प्रशंसनीय योगदान रहा है। इस संदर्भ में डॉ. रामचन्द्र तिवारी का कथन है, ''गद्य की विविध शैलियों एवं विधाओं के विकास में आलोच्य युग की पत्रिकाओं का स्थायी योगदान है। इस श्रेणी की पत्रिकाओं में 'सरस्वती' अन्यतम थी। इसमें संदेह नहीं कि सरस्वती ने भाषा और साहित्य दोनों क्षेत्रों में नये युग का निर्माण किया। वह सचमुच आलोच्य युग की साहित्यिक उच्चता का निकष बन गयी थी।''

(तिवारी, 1993, 526)

भारतेंदु युग की तुलना में इस युग में शास्त्रीय रूढ़ियों का विघटन हुआ और पत्रकारिता पंडिताऊपन से मुक्त हुई। इसकी शैली में भी बदलाव आया और भाषा तथा व्याकरण की शुद्धता पर बल दिया गया। व्यापक जन समुदाय को प्रभावित कर उनमें दायित्व बोध जगाना पत्रकारिता का उद्देश्य बना। इस युग की पत्रकारिता ने अनेक उच्च आदर्शों को विस्तार दिया, जिनमें प्रमुख हैं-

आत्माभिमान, देशानुराग, स्वतंत्रता प्रप्ति हेतु क्रांति और आत्मबलिदान की भावना, स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, अतीत का गौरवगान, सामाजिक कुरीतियों और धर्माडंबर पर तीखा प्रहार, सांस्कृतिक पुनरुत्थान और हिंदी अनुराग। इस युग की पत्रकारिता का मुख्य स्वर भी यही भावनाएँ थीं।

छायावाद युगीन साहित्यिक पत्रिकाएँ

छायावाद का जन्म विशेष सामाजिक - साहित्यिक परिस्थितियों के मध्य हुआ है। इस काल के कवि और लेखक पत्रकार तथा संपादक भी रहें हैं, जिन्होंने अपनी बौद्धिक प्रखरता और वैचारिक विविधता से इस काल को प्रबुद्ध बनाया। साहित्यिक पत्रिकाएँ अन्याय, अमानवीयता और शोषण आदि के विरोध में आवाज उठाने के साथ-साथ साहित्यिक आंदोलनों, साहित्यिक प्रवृत्तियों तथा साहित्यकारों को स्थापित करने में भी सहायक होती हैं। छायावाद युगीन पत्रिकाएँ दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, छमाही और वार्षिक थी।

प्रमुख पत्रिकाएँ

श्री शारदा - 'छायावाद' युग को मान्यता प्रदान करने का श्रेय इसी पत्रिका को है। साहित्य संवाद, राजनीतिक प्रगति, सहयोगी साहित्य तथा समालोचना शीर्षक से विभिन्न स्तंभों के रूप में इसमें विविध विषयों पर आलेख तथा टिप्पणियों का प्रकाशन होता था।

चाँद - 1920 ई. में प्रयाग से इसका प्रकाशन साप्ताहिक पत्र के रूप में हुआ था। इसके कई विशेषांक निकाले गए। जैसे चतुरसेन शास्त्री के संपादन में फाँसी अंक (11 नवंबर, 1928), नारी आंदोलन अंक, अछूत अंक, सती अंक, मारवाड़ी अंक आदि। नवम्बर, 1935 में महादेवी वर्मा के संपादन में विदुषी अंक तथा दिसम्बर, 1926 में प्रेमचंद के संपादन में गल्पांक विशेष चर्चित हुए।

मतवाला- विनोदपूर्ण शैली में खरी-खरी सुनाना इस पत्र की प्रमुख विशेषता थी। निराला जी के पूर्ववर्ती काव्य के प्रकाशन के साथ-साथ इसमें हरिऔध, चतुरसेन शास्त्री, प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद तथा पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' की रचनाएँ भी इसमें प्रकाशित होती थी।

समन्वय- इसमें धार्मिक, आध्यात्मिक और सामाजिक विषयों के साथ-साथ साहित्यिक रचनाओं का प्रकाशन भी होता था।

सरोज - यह सचित्र मासिक पत्र था। इसका प्रकाशन मातृभाषा की सेवा करने के उद्देश्य से किया गया था।

माधुरी- हिंदी में उच्चकोटि के साहित्य के प्रकाशन, लेखन - शैली में सुधार, जनता का मनोरंजन करने तथा हिंदी में वृहद पत्रिका के अभाव को दूर करने के उद्देश्य से 1922 ई. में लखनऊ से इस पत्रिका का प्रकाशन किया गया।

सुधा - तत्कालीन राष्ट्रीय - आंदोलन के समर्थन और अंग्रेजी के स्थान पर हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के विकास के लिए महत्वपूर्ण कार्य किए।

विशाल भारत- इस पत्रिका का उद्देश्य था- हिंदी पाठकों को शुद्ध सात्विक मानसिक भोजन प्रदान करना। अपने समय के तेजस्वी और जागरूक इस पत्र में उच्चकोटि की साहित्यिक रचनाएँ प्रकाशित होतीं थीं।

हंस- यह इस युग का अत्यंत जागरूक मासिक पत्र था, जिसका संपादन प्रेमचंद के उपरांत जैनेन्द्र, शिवदान सिंह चौहान, अमृत राय, राजेन्द्र यादव आदि ने किया। इसके विषय में डॉ. गोपाल राय ने लिखा है, 'प्रकाशित होते ही हंस समकालीन हिंदी - कथा साहित्य का प्रतिनिधि पत्र बन गया। कथा साहित्य के अतिरिक्त इसमें उच्चकोटि की कविताएँ, एकांकी, निबंध और आलोचनाएँ भी प्रकाशित होती थी।

(राय, 2018, 588)

विवेच्य युग की साहित्यिक पत्रिकाओं ने तत्कालीन साहित्य को नवीनता, प्रखरता, स्पष्टवादिता एवं वैचारिक दृढ़ता प्रदान की। इन्होंने हिंदी की समृद्धि, स्वतंत्रता आंदोलन को वैचारिक समर्थन तथा साहित्यिक योजनाओं को शिखर तक पहुँचाने में सराहनीय योगदान दिया। भाषा और विषय की परिपक्वता के लिए ये पत्रिकाएँ निरंतर प्रयासरत रहीं। भाषा को नया संस्कार देने तथा कोमलता - प्रांजलता प्रदान करने का श्रेय भी इन्हीं पत्रिकाओं को जाता है।

छायावादोत्तर युग से लेकर अबतक की साहित्यिक पत्रिकाएँ

हिंदी साहित्य का छायावादोत्तर युग साहित्य की अन्य विधाओं की तरह पत्रकारिता की विकास यात्रा के अविरल प्रवाह का भी साक्षी रहा है। इस युग की पत्र-पत्रिकाओं में सर्वाधिक चर्चित था -'आज', 'वीर अर्जुन', 'कर्मवीर', 'वीणा', 'विशाल भारत'। साहित्यिक परिवेश को बढ़ावा देने में इस युग की अन्य पत्रिकाओं में 'धर्मयुग', 'साप्ताहिक हिंदुस्तान', 'रविवार' तथा 'दिनमान' का नाम भी उल्लेखनीय है।

अद्यतन युग हिंदी पत्रकारिता के क्षेत्र में चरमोत्कर्ष का काल सिद्ध हुआ। इस काल की साहित्यिक पत्रिकाओं ने साहित्य के विविध रूपों को पुष्पित - पल्लवित किया। इन्होंने साहित्य को उच्चस्तरीय साहित्य बनाने में अपनी महत्वपूर्ण जिम्मेदारी का निर्वाह किया। 'दिनमान', 'कादम्बिनी', 'सारिका', 'ज्ञानोदय', 'साक्षात्कार', 'वर्तमान साहित्य' आदि इस युग की प्रमुख पत्रिकाएँ हैं।

नई धारा-यह भी हिंदी की एक अत्यंत लोकप्रिय और प्रतिष्ठित द्विमासिक साहित्यिक पत्रिका है, जिसका प्रकाशन 1950 में पटना से हुआ था। तब से आज तक यह हिंदी साहित्य के विकास में अपनी भूमिका का निर्वाह कर रही है। वर्तमान संपादक डॉ. शिव नारायण के कुशल संपादन में यह पत्रिका समकालीन विषयों पर आधारित लेखन के साथ नवोदित साहित्यकारों को भी बढ़ावा देती है।

साहित्य यात्रा प्रोफेसर कलानाथ मिश्र द्वारा संपादित एवं पटना से प्रकाशित, विद्वत परिषद द्वारा समीक्षित यह त्रैमासिक पत्रिका 2014 से प्रकाशित हो रही है। अब तक इसके 42 अंक प्रकाशित हो चुके हैं। अपने नाम के अनुकूल हिंदी की साहित्यिक यात्रा में यह मील का पत्थर साबित हुई है, जो हिन्दी के श्रीवृद्धि में अपना अतुलनीय योगदान प्रदान कर रही है। यह सिर्फ साहित्यिक विधाओं के प्रकाशन तक ही सीमित नहीं; अपितु इसमें शोधार्थियों के शोध आलेख भी प्रकाशित होते हैं। इसके साथ-साथ पाठकों के अंवेषणात्मक दृष्टि को ध्यान में रखते हुए साहित्य यात्रा साहित्य के विभूतियों पर केंद्रित विशेषांक प्रकाशित करता रहता है, जिनमें लघु कथा विशेषांक, नरेंद्र कोहली, रामदरश मिश्र, फणीश्वरनाथ रेणु, प्रकाश मनु इत्यादि प्रमुख हैं। अपने प्रकाशन काल से लेकर अद्यतन इसकी विकास यात्रा जारी है। आज यह साहित्यिक ही नहीं शोध पत्रिका के रूप में भी पूर्णतः प्रशंसित और स्थापित हो चुकी है।

सोशल मीडिया और ई - पत्रिकाएँ

यद्यपि गूगल की सारी जानकारियाँ सत्य नहीं होती हैं और इंटरनेट को सूचना का एकमात्र आधार माध्यम नहीं माना जा सकता। लेकिन इस तथ्य को भी नकारा नहीं जा सकता कि टेक्नोनोलॉजी का विकास मनुष्य की क्षमताओं का विस्तार होता है और नये माध्यमों को अपनाना आज साहित्य की अनिवार्यता है। इस दृष्टि से ई-पत्रिकाओं को मुद्रित साहित्यिक पत्रिकाओं का विकल्प मानना गलत नहीं होगा। दोनों में अंतर बस इतना ही है कि मुद्रित पत्रिकाएँ कागज पर रहती हैं और ई - पत्रिकाएँ स्क्रीन पर। प्रचुर मात्रा में सोशल मीडिया पर आज साहित्य सृजन हो रहा है, जिनमें सर्वाधिक सक्रिय भूमिका युवाओं की है। इंटरनेट पर उपलब्ध साहित्य के विभिन्न प्रारूपों के बीच ई साहित्यिक पत्रिकाओं का महत्व स्वयंसिद्ध है। ई - प्लेटफॉर्म पर 'फेसबुक', 'व्हाट्सैप', 'वी चौट' जैसे सोशल मीडिया का आधिपत्य है, तो ब्लॉग और विभिन्न वेबसाइट पर भी साहित्यिक पठनीय सामग्री उपलब्ध हैं।

कुछ प्रमुख ई-पत्रिकाएँ हैं- 'रचनाकर', 'समालोचन', 'हस्ताक्षर' आदि। 'हंस', 'कथादेश', 'पहल', 'वागर्थ' आदि वेबसाइट पर उपलब्ध हैं।

निष्कर्ष

स्वतंत्रता प्राप्ति से लेकर अबतक साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में आमूलचूल परिवर्तन हुआ है। सिर्फ प्रकाशन की दृष्टि से ही नहीं सोशल मीडिया ब्लॉग और वेबसाइट्स के रूप में भी इनका अभूतपूर्व विकास हुआ।

भारतेंदु युगीन पत्रिकाओं में यदि राष्ट्रीय चेतना और पुनर्जागरण का संदेश था तो द्विवेदी युगीन और छायावादी पत्रिकाओं ने सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक मुद्दों को आवाज दी। आधुनिक युग की पत्रिकाएँ व्यवसायिकता की होड़ में आज स्वयं के ही अस्तित्व की रक्षा के लिए संघर्ष रत हैं, लेकिन अपने उत्तरदायित्व से विमुख नहीं हैं। ये अपने समसामयिक परिवेश और संदर्भों से पूरी तरह जुड़ी हुई है। इनकी पूर्ववर्ती पत्रिकाएँ प्रायः साहित्यिक और सामाजिक विषयों को प्राथमिकता देतीं थीं लेकिन आज की साहित्यिक पत्रिकाएँ प्रत्येक साहित्यिक विधा को महत्व देती हैं।

साहित्यिक पत्रिकाओं का समाज में बने रहना सांस्कृतिक विकास के लिए भी अत्यंत आवश्यक है। यह साहित्य के माध्यम से समाज को समझने का जरिया है। भारतीय भाषा परिषद् द्वारा 16-17 फरवरी, 2019 को कोलकत्ता में आयोजित दो दिवसीय साहित्यिक पत्रिका सम्मेलन में एक सत्र में अपने अध्यक्षीय भाषण में प्रसिद्ध कवि और 'आलोचना' के संपादक श्री अरूण कमल ने कहा था कि दरअसल समाज में जबतक विकल्प की तलाश जारी है, नए लेखक आते रहेंगें और साहित्यिक पत्रिकाएँ निकलतीं रहेंगीं। मुद्रित पुस्तकें दशकों बाद भी पढ़ी जातीं हैं और इनका विकल्प नहीं होता। इसलिए इनका भविष्य अत्यंत उज्ज्वल है। साहित्यिक पत्रिकाओं का महत्व जिस दिन कम होगा उस दिन से साहित्य भी महत्वहीन हो जाएगा क्योंकि साहित्य का भविष्य साहित्यिक पत्रिकाओं के भविष्य पर ही निर्भर करता है। साहित्यिक पत्रिकाओं से प्राणवायु और जल पाकर ही साहित्य रूपी बीज अंकुरित होता है एवं विविध विधाओं के रूप में उसकी शाखाएँ-प्रशाखाएँ पुष्पित पल्लवित होती हैं।

संदर्भ स्रोत :-

1. जयचन्द्रन, आर. (2018) साहित्यिक पत्रकारिता का योगदान नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन।
2. तिवारी, डॉ. रामचन्द्र (2018) हिंदी का गद्य साहित्य वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन।
3. पांडेय, कैलाश नाथ (2014) प्रयोजनमूलक हिंदी की नयी भूमिका इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन।
4. राय, गोपाल (2018) 'छायावाद : गद्य साहित्य' हिंदी साहित्य का इतिहास पृ. 514-590।
5. शंकर, डॉ. विवेक (2017) हिंदी साहित्य जयपुर : राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी।
6. hindicarvaan.com/साहित्यिक- पत्रिका (अभिगमन - 03.11.19)

डॉ. दीपा श्रीवास्तव, असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, पटना वीमेंस कॉलेज, पटना
मो. : 9523470179, ई-मेल : deepa.hindi@patnawomenscollege.in

हिन्दी नवगीत के सशक्त हस्ताक्षर और यशस्वी कवि बुद्धिनाथ मिश्र विगत दिनों पटना पधारे थे। उनसे साहित्य यात्रा के संपादक की लंबी बातचीत हुई थी। कविता, नवगीत जैसे साहित्य के विभिन्न विषयों पर यह एक महत्वपूर्ण साक्षात्कार है।

यशस्वी नवगीतकार बुद्धिनाथ मिश्र जी से साहित्य-यात्रा के संपादक कलानाथ मिश्र की बातचीत

कलानाथ - बुद्धिनाथ जी आपका बहुत-बहुत स्वागत है। वैसे तो आप देहरादून में रहते हैं किन्तु यह आपका ही प्रांत और शहर है। हमारे लिए बहुत गौरव की बात है कि भारत ही नहीं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी आपकी ख्याति है। ऐसी मुलाकात बहुत विरल है किन्तु यह हमारा सौभाग्य है कि आज आप हमारे बीच हैं और आपसे रू-ब-रू होने का सुअवसर प्राप्त हुआ है।

मिश्र जी! पाठकों के मन में आपके नवगीत को लेकर बहुत सारी जिज्ञासाएँ है। वे आपकी गीतों को पढ़ते हैं और गुनगुनाने भी लगते हैं। उनके मन में यह जिज्ञासा है कि किन परिस्थितियों में आपके मन में ये गीत आए? वे आपसे प्रेरित होकर गीत लिखना चाहते हैं। सबसे पहले मैं आपसे यह जानना चाहता हूँ कि कविता और गीत की तरफ

आपकी ललक शुरूआती दौर में कैसे हुई?

बुद्धिनाथ मिश्र- कलानाथ जी, सबसे पहले मैं आपको धन्यवाद देता हूँ कि अभ्युदय परिसर के रमणिक वातावरण में बैठकर हमलोग बातचीत कर रहे हैं। सचमुच, जब भी मैं पटना आता हूँ तो कई कारणों से रोमांचित हो जाता है। एक कारण यह भी है कि मैं बनारस या उत्तर प्रदेश के बाद पहली बार 1969 में कवि सम्मेलन में आया था। पटना के बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के स्वर्ण जयंती समारोह में मैंने बहुत छोटे कवि के रूप में भूमिका निभाई थी। दूसरा कारण है कि मेरा पहला गीत 'ज्योत्स्ना' में प्रकाशित हुआ था। मैं बहुत पहले से लिखता था। मेरे लेख, कहानी छपते रहते थे। उस समय मुझे अपने जेब खर्च के लिए लिखने की आवश्यकता थी। मैं 'आज' अखबार में लिखता था। मुझे कविता के लिए पाँच रुपया और लेख, कहानी का पंद्रह रुपया मिलता था। चूँकि उस समय मुझे रुपए की आवश्यकता थी, इसलिए मैं वही लिखता था।

कलानाथ - लेख के लिए पंद्रह रुपया का भुगतान उन दिनों के हिसाब से महत्वपूर्ण है। ये किस ईसवी की बात है?

बुद्धिनाथ मिश्र- ये छियासठ की बात है। पैंसठ में मैं बी.ए. ऑनर्स में था। उस समय मुझे अपना निजी खर्च चलाने के लिए इसकी बहुत आवश्यकता थी। लेखन में थोड़ा पाँव जमने के बाद प्रकाशन के लिए मैंने गीत भेजना चाहा। अब समस्या थी कि किसको भेजूँ? उस समय मेरे पास ज्योत्स्ना पत्रिका थी, उसका मैंने पता नोट किया और उन्हें भेजा। उस गीत का मैंने मंच पर कभी उपयोग नहीं किया। वह गीत था- 'मैं चला पागल मुझे, मेरे मिटे अरमान दे दे।'

कलानाथ - वाह! क्या बात है।

बुद्धिनाथ मिश्र - दूसरा गीत था-

'दर्द को दिल में दबा कर,
याद को विष में बुझाकर,
दूर दुनिया से ,
नदी के तीर कोई गा रहा है। '

मेरे भाई साहब गीत गाते रहते थे। मैं बचपन से ही उन्हें सुनता आ रहा था। संभव हो कि बचपन में बनारस में रहते हुए मैंने जो अनुभव किया, यह गीत उसी का प्रतिफल हो।

कलानाथ - मुझे लगता है कि गीत तत्व कविताओं में हैं। साहित्य लेखन के शुरुआती दौर में लोग कविताएँ बहुत लिखते हैं। बड़े-बड़े लोग जो साहित्य में आए, वे आलोचक बने, कहानीकार और उपन्यासकार भी बने किन्तु लेखन के अपने आरंभिक दौर में उन्होंने भी कविता अवश्य लिखी। आपकी कविताओं में गीत तत्व, ध्वंयात्मकता और राग है। वह इतने विशिष्ट रूप में कैसे समाहित होता है?

बुद्धिनाथ मिश्र - गीत मेरे नसों में है। मैं चाह के भी आजकल जिस तरह की नई कविता लिखी जाती है, नहीं लिख सकता। मैंने कोशिश भी की और उसे फाड़ कर फेंक दिया कि यह फालतू चीज है। मैंने बचपन से ही अपने पिता जी को प्रभाती गाते सुना। वे तीन बजे सवेरे जग जाते थे। मैं उनके साथ ही दलान में सोता था। मुझे सुबह-सुबह प्रभाती सुनने को मिलता था- 'जाग रहो पृथ्वीराज जाग...'इसी तरह से सूरदास के एक गीत' हे गोविंद राखों शरण, अब तो जीवन हारो...'। इस तरह मेरे मन में संस्कार बनता गया। मुझे विद्यापति के गीत ने भी प्रभावित किया। उनके गीतों में प्रारंभ से लेकर अंत तक अर्थात् जन्म से लेकर मृत्यु तक के गीत हैं। इस तरह कविता के नाम पर जो विधा मेरे मन में थी, वो गीत ही था। उसको मजबूती तब मिली, जब बनारस जाकर तुलसीदास और सूरदास से परिचय हुआ। मेरे मन में यह बात स्पष्ट था कि जिसे लोग अंगीकार करे, जो लोगों के होंठों पर हो, जो लोगों के दिल में धड़के, वही कविता है। इसके बिना कविता का कोई मतलब नहीं है। गीत वही है, जिसको गाया जाए, जिसे प्रस्तुत किया जा सके या जो सुख-दुःख में याद आए।

कलानाथ - वैसे भी गीत में एक शक्ति है। वह हृदय तक सीधे पहुँचता है। उसके लिए बहुत दाँव-पेंच और मस्तिष्क चलाने की आवश्यकता नहीं है। आपके गीत तो खासकर हृदय तक पहुँच पाते हैं। आपने अपने गीतों में अनोखे ढंग से प्रकृति के बिंबों का प्रयोग किया है। आपके गीतों की खासियत है कि आप उनमें लोकभाषा के शब्दों का प्रयोग करते हैं। आप लोक जीवन से जुड़े शब्दों का बहुलता से प्रयोग करते हैं। यह कैसे संभव हो पाया?

बुद्धिनाथ मिश्र - इसके पीछे का मुख्य कारण यह है कि मेरे बचपन में विद्या का प्रारंभ संस्कृत के महाकवियों के माध्यम से हुआ है। मैंने कालिदास को सबसे ज्यादा पढ़ा, सुना और मनन किया। वे संस्कृत के बड़े रचनाकार व कवि हैं। वे अपनी रचनाओं में एक-एक शब्द को स्पष्ट करते थे। 'कश्चित् कांता विरह गुरुणा' इसमें वे बताते थे कि कांता की जगह भार्या शब्द का भी प्रयोग कर सकते हैं, किन्तु कांता में कमनीयता है। उसी से कांता शब्द बना है। भार्या में जिसका भरण-पोषण किया जाए। स्वाभाविक है कि जिसकी लायब्लिटी होती है, उससे मनुष्य भागना चाहता है। जहाँ आकर्षण होता है, उसकी ओर लोग आकर्षित होते हैं। इस तरह कांता में आकर्षण है, तो उसका विरह हो सकता है। भार्या में है कि चलो चार-पाँच महीना मुक्त हुए, भरना नहीं है। अतः शब्दों की समझ, मुझे प्रारंभ में ही मिल गई थी। मैंने एम.ए. अंग्रेजी में किया, लगभग चार वर्ष अंग्रेजी साहित्य को पढ़ा, तो मुझे नहीं लगा कि कोई भी कवि संस्कृत के कवियों की तुलना में सटीक बैठते हैं, सभी बचकाने लगते हैं। पूरा संस्कृत साहित्य ही प्रकृति से भरा पड़ा है। मुझे लगा कि जितनी संवेदनशीलता संस्कृत साहित्य में है, उतनी दूसरे साहित्य में आना बहुत मुश्किल है। मुझे अपनी पढ़ाई के दौरान अंग्रेजी के अलंकार छंदों की जो समझ मिली, उसका लाभ हिन्दी और मैथिली दोनों को मिला क्योंकि हिन्दी में जो लिख रहे थे, वे अंग्रेजी नहीं जानते थे। मैं यहाँ यह स्पष्ट करूँगा कि 'आई गो टू द स्टेशन' ये कोई अंग्रेजी नहीं हुई। आप उसके मर्म को जाने, तब जाकर अंग्रेजी के जानकार होते हैं। नेहरू जी ने 'डिस्कवरी ऑफ

इंडिया' लिखा। मैं क्षमा के साथ कहना चाहूँगा कि जवाहर लाल नेहरू जैसा अंग्रेजी का विद्वान ऐसा लिखा। या तो उन्होंने नजरअंदाज किया या वे उसी भाषा में लिखना चाहते होंगे। अंग्रेजी में डिस्कवरी एक खास अर्थ में है। एक्सप्लोरर, जिस द्वीप पर वे कब्जा करते थे, उसे वे डिस्कवरी कहते थे। मैंने सोचा कि अंग्रेज तो ये कर सकते हैं, पर जवाहरलाल नेहरू कैसे कर सकते हैं? इसका मतलब कि उनका मन भी पूरी तरह अंग्रेजियत से रंगा हुआ था। उसी प्रकार, नेटिव शब्द, 'वर्नाकुलर शब्द' जैसे शब्दों का प्रयोग होता है। वर्नाकुलर शब्द फ्रेंच शब्द है और ये गँवारों की भाषा है। आप भारतीय भाषा को वर्नाकुलर नहीं कह सकते हैं। मैंने ऐसे कई छोटे-छोटे, महीन अर्थ को जाना और उसका लाभ मुझे हिन्दी एवं मैथिली कविता में प्राप्त हुआ। मेरे गीत इसी वजह से लोगों को थोड़ा अलग हटकर लगे और लोगों ने उसे सिर आँखों पर रखा।

कलानाथ - मिश्र जी, आपके एक गीत के पचास साल पूरे हुए हैं। वह आपका बहुत प्रसिद्ध गीत है- 'एक बार और जाल फेंक रे मछेरे, जाने किस मछली में बंधन की चाह हो।' इस गीत की इतनी चर्चाएँ हुई है कि मैं नहीं समझता कि किसी कवि के एक गीत की इतनी चर्चा कहीं हुई हो। साहित्य में केवल एक गीत की स्वर्ण जयंती मनाई गई है। आपको कैसा प्रतीत होता है? इस रचना की क्या प्रक्रिया थी? आपने इसे किस रूप में कब लिखा?

बुद्धिनाथ मिश्र - कलानाथ जी, मैंने 1969 में एम.ए. कर लिया था। ये रचना एम.ए. करने के एक साल बाद की है। मैं उस समय बेरोजगार था और कवि सम्मेलन करके खुश था। उस समय बंग्लादेश से लड़ाई की भूमिका बन गई थी। इस गीत में आप देखिएगा कि सारी पृष्ठभूमि उस समय की ही है। ये पंक्ति बाद में आई थी, इससे पहले आई थी 'गूँजती गुफाओं में पिछली सौगंध है, हर चारे में कोई चुंबकीय गंध है, कैसे दे हंस झील के अनंत फेरे, पग-पग पर लहरें जब बाँध रही छाँह हो।' उसी दौरान अचानक ये आया 'एक बार और जाल फेंक रे मछेरे, जाने किस मछली में बंधन की चाह हो।' 'बंधन की चाह' से मैं रोमांचित हो गया था। ये कैसे आ गया? जैसे आदिकवि वाल्मीकि, जिनके आगे मैं कुछ भी नहीं हूँ। वे ऋषि थे, उनको मंत्र से ही मतलब था। वे तमसा नदी में स्नान करने जा रहे थे। वे जंगल से गुजर रहे थे। उन्होंने देखा कि एक व्याधा क्रोंच पर तीर से निशाना लगाया और क्रोंच मर गया। उस क्रोंच की मृत्यु पर क्रोंची ने जो विलाप किया, उसे सुनकर वाल्मीकि जी के मन में भाव और शब्द उमड़ने लगे और 'मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगमः शाश्वतीः समाः। यत्क्रौंचमथुनादेकं वधीः काममोहितम्।।' जब उनके मुख से स्वतः ही यह श्लोक निकला तो वे समझ नहीं पाए कि ये क्या निकला। फिर उन्हें लगा कि यह अनुष्टुप छंद है और बड़ा-सा बंधा हुआ छंद है। मैंने उसपर लिखा है। वाल्मीकि रामायण में पूरा प्रसंग वर्णित है। उनके असमंजस को दूर करते हुए ब्रह्मा बताते हैं कि आप पर सरस्वती जी की कृपा हैं।

साहित्य के प्रारंभ में ही दो प्रकार की रचना की गईं थी। एक छंदोबद्ध रचना और दूसरा एक उद्देश्य के साथ की गई रचना। अब प्रश्न उठता है- उद्देश्य मतलब क्या? अंधेरे में ब्रह्मराक्षस की तलाश तो हमारे जीवन और कविता का उद्देश्य ही हो सकता है। हमारे जीवन का उद्देश्य है-

'तमसो मा ज्योतिर्गमय'। यानि आलोकित करनेवाला जो व्यक्तित्व है, वह हमारी कविता का आदर्श होगा। वाल्मीकि जी ने ब्रह्मा जी से पूछा कि कौन ऐसा व्यक्ति है, जो हमारी कविता का आदर्श बनेगा। इसपर ब्रह्मा जी ने राम की कथा सुनाई। उससे पहले नारद जी ने उनको राम की कहानी कही थी। आप गौर करेंगे कि राम की कहानी वहाँ बचपन से शुरू नहीं होती है। यह एक विचित्र स्थिति थी। नारद जी वहाँ से शुरू करते हैं जब दशरथ राम को कहते हैं कि कल तुम्हारा राज्याभिषेक करेंगे। युवराज का अर्थ है- अगला राजा वह युवराज बनेगा। उस दिन मंथरा कैकयी को भड़काती है। कैकयी पहले कुविचार की नहीं थी, लेकिन मंथरा ने उसको प्रभावित किया और उसने कहा कि तुम अपने दो वर ले लो। एक वर में राम का वनवास और दूसरे में भरत का राज्याभिषेक। कैकयी मंथरा की बातों से इतनी प्रभावित हुई कि उसके विचार दृढ़ हो गए। कैकयी राम को बहुत मानती थी, अतः राजा उसे सबसे पहले यह सुखद समाचार देने के लिए आए थे। वह उसे बताना चाहते थे कि कल हम तुम्हारे बड़े बेटे का राज्याभिषेक करेंगे। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि कैकयी तो कोप भवन में बैठी हुई है। वह आभूषण रहित मलिन वस्त्र पहने भूमि पर लेटी हुई है। दशरथ ने जब कैकयी के इस दशा का कारण जाना तो वे वहीं मुर्झित हो गए, कुछ और करने की उनकी हिम्मत ही नहीं हुई।

राम अपने राज्याभिषेक वाले दिन की सुबह माता कौशल्या को प्रणाम करके माता कैकयी के पास उनका आशीर्वाद लेने आते हैं। माता कैकयी के कक्ष में प्रवेश करने से पहले वे द्वारपाल से अपने आने की सूचना भेजते हैं। माता कैकयी अपने कक्ष में उन्हें बुलाती हैं, जहाँ महाराज दशरथ बेहोश पड़े हुए थे। कैकयी राम को बहुत कठोरता के साथ बताती है कि महाराज ने मुझे दो वर दिए हैं। पहला तुम्हारा चौदह वर्ष का वनवास और दूसरा भरत का राज्याभिषेक किया जाएगा। यह सुनकर राम केवल एक बात कहते हैं- 'माँ आप मुझे सबसे अधिक मानती हैं। इस बात को आपने मुझसे सीधे क्यों नहीं कहा, आपने पिता जी को क्यों कहा? आप मुझे कहतीं, मैं खुशी-खुशी चला जाता।' यह राम का चरित्र है। इतना ही नहीं राम वहीं पर अपना सारा आवरण उतारते हैं। राजकुमार के राज्याभिषेक की घोषणा करने वाले जो लोग उनके साथ डुगडुगी बजाते हुए आए थे, उन्होंने सबको मना किया। राम वहाँ से रथ के बजाय पैदल घर जाते हैं। सीता को सारी बात बताते हैं। ये है उनका चरित्र। जिस युवक का राज्याभिषेक करना है, जो उमंग में भरा हुआ है, उसे एक झटके में कहना कि तुम्हारा राज्याभिषेक नहीं होगा। तुम्हें बिना किसी सेना और सुख-सुविधा के चौदह साल का वनवास दिया जा रहा है। मेरे अनुसार, वाल्मीकि जी ने एक आदर्श को हमारे सामने रखा है। मुझे दुःख इस बात का है कि उस देश में जहाँ प्रारंभ में ही एक आदर्श स्थापित कर दिया गया था, उसमें लोग न जाने कहाँ भटक रहे हैं? बाहर से कचरा उठा-उठा कर मुँह और देह पर लपेट रहे हैं और कह रहे हैं-वाह! क्या बात है? यह मुझे अच्छा नहीं लगा।

मैं जब बनारस में था तो उस समय भी दोनों तरह के रचनाकार थे। धूमिल और मैं पान की दुकान पर साथ ही बैठते थे, कविता सुनाते थे। मैं जो कविता सुनाता था, उसकी लोग प्रशंसा

करते थे। उनकी कविता सुनकर हमलोग प्रशंसा करने की कोशिश करते थे। ये अलग ढंग का तालमेल था। जैसे मान लीजिए कि हमें रोटी भात खाने का अभ्यास है और कोई ढोकला ले आया या कोई बर्गर ले आया। इसे हम स्वाद के लिए तो ले सकते हैं, लेकिन वह हमारा भोजन नहीं हो सकता। मुझे ये लगा कि इस तरह की कविता स्वाद बदलने के लिए तो ठीक है, किंतु हमारे शरीर में पचने लायक नहीं है।

कलानाथ - आपने जिस तरह छंद को आधार माना और कहा कि वाल्मीकि जी ने तय कर दिया था कि काव्य में 'तमसो मा ज्यार्तिगमय' की भावना होनी चाहिए। तो फिर निराला जी ने जिस रूप में कविता के मुक्ति की बात की एवं छंद, बंद और चमत्कार से अलग होकर कविता लिखने की बात कही। वह तो फिर भी श्रेष्ठ रचनाओं के प्रणेता हैं। निराला जी की बात को छोड़े, आज जो स्थितियाँ हो गई है, उसमें कविता में से कविताई का लोप हो गया है। इस दृष्टिकोण से आप कविता को कैसे देखते हैं? क्या निराला जी के सामने वाल्मीकि का आदर्श नहीं था? वे भी तो संस्कृत के ज्ञाता थे।

बुद्धिनाथ मिश्र - बिल्कुल सही कहा आपने, निराला पैदा हुए थे- महिषादल में और महिषादल बंगाल का एक सुदूरवर्ती इलाका है। उनके पिता एक रियासत में काम करते थे। उनकी प्रारंभिक शिक्षा बंग्ला में हुई है। उनकी पत्नी जब रामचरितमानस पढ़ती थीं तो उन्हें यह बहुत प्रिय लगता था। वे अपनी पत्नी से हिन्दी सीखे थे। हालाँकि उनका अकाल देहांत हो गया। उनकी मृत्यु ने निराला जी को बहुत आहत किया। उनका जो संस्कार था, वह बंगाल के रविंद्रनाथ टैगोर के समय का संस्कार था। निराला जी उसे लेकर आए थे। मैं यह भी बताना चाहूँगा कि निराला की भाषा हिन्दी की पारंपरिक भाषा के अनुकूल नहीं थी। उनकी भाषा बंग्ला और संस्कृत मिश्रित भाषा थी अर्थात् संस्कृत प्रधान भाषा थी। बाद में धीरे-धीरे उनकी पैठ हुई। आपने जो छंद को तोड़ने की बात कही, तो मैं आपको बता दूँ कि आज तक मुझे हिन्दी में कोई इतना बड़ा संगीतज्ञ कवि नहीं मिला। संगीत का उन्हें पक्का ज्ञान था। द्रुपद गाने वाले लोग डेढ़-डेढ़, दो-दो घंटा आलाप करते हैं। उनका ताल-मात्रा कहीं टूटता नहीं है। इसे आप द्रुपद की तरह समझे। उसमें छंद, मात्रा, लय और ताल है। मैं आपको यह बताना चाहूँगा कि पहले जो संस्कृत के छंद होते थे, उसमें तुक नहीं होता था। जैसे गीतों में हम देखते है- 'बंधन की चाह हो, मौसमी गुलाब हो।' इस तरह तुक मिलाकर गीत करते हैं। मैं समझता हूँ ये तुक कुछ लोक भाषाओं से आया। लोक भाषा की कविता और गीत से आया और कुछ फारसी के प्रभाव से आया। संस्कृत और फारसी बहुत मिलते-जुलते थे और उनकी संस्कृति एक थी। ये तो बाद की बात है कि अरबी आक्रमणकारियों ने उसे ध्वस्त कर दिया और फारसी समाप्त हो गई। फारसी के नाम पर जो आज मौजूद है, वह मूलतः अरबी है। अब बहुत थोड़े से छंद बचे हुए है। लगभग छह-सात छंद फारसी के बचे हुए है, जो संस्कृत से मिलते हैं। मंदाक्रांता, पंचचामर छंद संस्कृत के हैं, जिनका गजलों में प्रयोग किया जाता है। निराला जी को संस्कृत शब्द और संगीत का अच्छा ज्ञान था। खासकर, संस्कृत का जो शब्द भंडार है, उससे वे परिचित थे। इसलिए वे उसे तोड़ते थे। जैसे कोई पेंटर, जो बहुत बड़ा

कलाकार होता है। जब उसे पेंटिग का अभ्यास हो जाता है, वह दक्ष हो जाता है तो वह चाहे जिस भी तरह से पेंटिंग करें, वह गणित होगा ही। निराला जी की रचना कुकुरमुत्ता में आपको एक गणित मिलेगा। हालाँकि उन्होंने उसे चिढ़कर लिखा था। कुकुरमुत्ता उनका आदर्श काव्य नहीं है। चिढ़कर उन्होंने यह बताया कि मैं यह भी लिख सकता हूँ। उन्होंने उपन्यास भी लिखा। जैसे- जयशंकर प्रसाद जी ने कंकाल रचना प्रेमचंद की बातों से चिढ़कर किया था क्योंकि प्रेमचंद हमेशा उनको कहते थे कि तुम गड़े मुर्दा उखाड़ते हो। दोनों बेनियाबाद के पास रहते थे और सवेरे दोनों मॉर्निंग वॉक करते थे। चूँकि मैं बनारस का हूँ इसलिए मैं यह सब जानता हूँ। दोनों बहुत अच्छे मित्र भी थे और एक-दूसरे के विचारों के विरोधी भी। प्रसाद जी ने कंकाल की रचना सिर्फ यह बताने के लिए लिखा कि मैं केवल कामायिनी, चंद्रगुप्त और स्कंदगुप्त ही नहीं लिखता हूँ। मैं आज के यथार्थ को कंकाल में भी लिख सकता हूँ। यही तथ्य कुकुरमुत्ता में भी दिखता हैं। वो जो गुलाब है, वह उस समय के प्रधानमंत्री के प्रतीक के रूप में लिया गया। वे दोनों इलाहाबाद में ही रहते थे, किन्तु दोनों में आकाश-पाताल का अंतर था। इस तरह मूल बात यह है कि निराला जी को छंद मुक्त कवि नहीं कह सकते हैं। दरअसल, उन्होंने छंद को तोड़ने का काम किया। हमारे सामने जो पैरामीटर बना हुआ था, उन्होंने उस पैरामीटर को और फैलाया। आगे चलकर नवगीत में इस तरह के बहुत प्रयोग किए गए। हमलोग नवगीत के प्रणेता, निराला जी को मानते हैं।

'नव गति, नव लय, ताल-छंद नव,
नवल कंठ, नव जलद-मंद्र नव'

गति मतलब छंद के लिए गति, यति होनी है। काव्य में गति, ताल-छंद होनी चाहिए। इसके माध्यम से निराला जी नवीनता की बात करते हैं। दूसरे रचनाकार उनका ध्यान दूषित किए। निराला जी छंदों को तोड़ते हुए लिखें। इनके गीत का रूप बांग्ला के छंद विधान से निकाला हुआ हैं।- 'बाँधो न नाव इस ठाँव बंधु, पूछेगा सारा गाँव बंधु'।

ये वही का इमेजनरी है। बंगाल में छोटे-छोटे गाँव और तालाब होते हैं। हरेक चार घर पर एक तालाब होता है। स्त्रियाँ उसी तालाब पर नहाती, उससे पानी भरती और उसी से पूजा भी करती हैं। इस गीत में उस पोखरे से घर का संबंध स्पष्ट झलकता है।

कलानाथ - आपने माना कि निराला जी ने छंद का विस्तार किया। उन्होंने नए छंदों को जोड़ा, लेकिन उन्होंने उसमें गणित जोड़ा। छायावाद, प्रगतिवाद होते हुए कविता, फिर नकेनवाद और नई कविता तक बात आ गई। वहाँ आकर लगता है कि कविता बिल्कुल-सी बदल गई है। जहाँ न कोई लय है न छंद है। बातों को बहुत अभिधात्मक तरीके से प्रस्तुत करते हैं। इसपर आप क्या कहना चाहेंगे?

बुद्धिनाथ मिश्र - मैं अज्ञेय जी को बहुत मानता हूँ और उनका सम्मान करता हूँ। मुझे लगा कि यदि हम इतिहास की पड़ताल करें, तो अज्ञेय जी के लिए दिनकर जी सबसे बड़ी समस्या थे। दिनकर जी का उस समय वर्चस्व था, युवा पीढ़ी के हृदय में दिनकर जी की कविता थीं। चाहे वो

रश्मिरथी हो या कुरुक्षेत्र। उस समय दिनकर जी युवाओं की धड़कन थे। हमारा दुर्भाग्य है कि दिनकर जी बिहार के थे। अगर वे दिल्ली के होते, तो उनका और भी महत्व एवं सम्मान होता। बिहारी होने के बावजूद उन्होंने संपूर्ण हिन्दी जगत पर चुनौतीपूर्ण वर्चस्व कायम किया था। उससे आगे रेखा कोई और खींच ही नहीं सकता था। अज्ञेय जी कविता से संबंधित विदेशी विचारों को लेकर आए। जैसे- ब्रज में उद्धव गए और कहा कि कृष्ण को क्यों प्रेम करते हो, ब्रह्म को देखो। इसपर बजरंगराव ने जवाब दिया कि ''कर बिनु कैसे गाय दुहियों हमारी उधो, पग बिन कैसे नाच थिरक रिझाई।'' हमें तो ऐसा ईश्वर चाहिए, जोकि नाचे भी, देखे भी, गाय भी दूहे। आप जिसे कह रहे हैं, उसके न हाथ है, न पाँव है। हम उसको लेकर क्या करेंगे। उसी तरह का कॉन्सेप्ट अज्ञेय जी लेकर आए कि देखो ये है आधुनिक जीवन और उसके विस्तार की कविता। अज्ञेय जी ने दिनकर जी को साइड लाइन करने के लिए तार सप्तक की रचना की। तार सप्तक के जितने कवि लिए गए हैं। यदि आप उनपर ध्यान दें, तो पाएँगे कि उनमें से बहुत कवि हैं ही नहीं। उदाहरण के लिए, प्रभाकर माचवे। मेरा उनके साथ वर्षों का संबंध और परिचय रहा। प्रभाकर माचवे जी खुद कहते थे कि मैं कवि नहीं हूँ। चूँकि उस समय पंडित नेहरू उनको बहुत मानते थे। उन्हें साहित्य अकादमी का सचिव बनाए हुए थे, इसी वजह से अज्ञेय जी ने उनको तार सप्तक में स्थान दिया। उन्होंने ऐसे-ऐसे लोगों को चुनकर लिया, जो उनकी जय-जयकार करते थे। दिनकर जी उनकी क्यों जय-जयकार करते। अज्ञेय की उन्हें जरूरत ही नहीं थी।

चूँकि मैं अंग्रेजी का छात्र रहा हूँ, तो मुझे लगता है कि अगर इंग्लैंड से ही विचारों का आयात करना था और हम अपने को इतना असक्षम समझ रहे थे, तो डब्ल्यू बी ईस्ट को लेते। अज्ञेय जी और उनके सभी कवियों ने इलियट का नकल किया। इलियट साम्राज्यवाद का पक्षधर था। डब्ल्यू बी ईस्ट लोकतंत्र और जनता का पक्षधर था। वह गीत का पक्ष लेता था। बच्चन जी ने इंग्लैंड में अपने शोध को प्रस्तुत करते समय डब्ल्यू बी ईस्ट को पढ़ा। उन्होंने इलियट को अपना रोल मॉडल बनाकर गलती कर दी। उसका परिणाम यह हुआ कि पचास साल में ऐसे विद्वान यूनिवर्सिटी में आराम से विलासिता कर रहे थे। वे पढ़ा रहे थे सूर और तुलसी। बात करते थे कि रूस और पाकिस्तान से सहायता ले कि नहीं, रूस और अमेरिका में सुलह होगी या युद्ध करेंगे। अरे भाई! तुमको इससे क्या मतलब? तुम्हें अपने विषय का तो ज्ञान है नहीं। इस समस्या के कारण इन पचास सालों में हिन्दी कविता का जनता से कोई संबंध नहीं रह गया। उर्दू शायरी को लकीर का फकीर कहते हैं, लेकिन उर्दू शायरी ने कभी भी छंद को नहीं छोड़ा। उसका परिणाम यह हुआ कि आज समाज में कविता की पहचान के रूप में देखें, तो उर्दू कविता बेहतर ढंग से काम कर रही है। उर्दू के शायर ज्यादा पहचाने जाते हैं। हिन्दी के चुटकुलेबाजों की पहचान है, हिन्दी कवियों की कोई पहचान नहीं है। इस दुर्गति में सबसे बड़ा योगदान हिन्दी के शिक्षकों का है क्योंकि उन्होंने इसकी गंभीरता को नहीं देखा। उन्होंने इस बात को नहीं समझा कि वे कर क्या रहे हैं? जैसे विश्वामित्र ने ब्रह्मा से टक्कर ले लिया। विश्वामित्र ने कहा कि हम भी सृष्टि कर सकते हैं। वे सृष्टि करते-करते ऊँट बनाए। मनुष्य तो नहीं बना पाए ऊँट बनाए। इस प्रकार हमारे

आस-पास ऊँट सब घूम रहे हैं और दुर्भाग्य यह है कि आम के बगीचे में रेगिस्तान के ऊँट घूम रहे हैं।

कलानाथ - ये तो आपने विरोधाभास की बात की। आपने अभी गज़ल की बात की। आपने कविता लिखी। नवगीत में आपकी बहुत चर्चा हुई। आपने गज़ल भी लिखे हैं। आप गज़ल की रचना को किस रूप में देखते हैं?

बुद्धिनाथ मिश्र - जी, मैं जिस बात को बहुत अच्छी तरह महसूस करता हूँ, आपको वही बताता हूँ। जब मैं बी.ए. ऑनर्स में पढ़ता था, तो उस समय मैं शेरो-शायरी भी करता था। मेरे मित्र उस शेरो-शायरी को बहुत पसंद करते थे, उनको याद भी है। वे उसे बहुत गाते भी थे। बाद में जैसे-जैसे मेरी यात्रा कविता में शुरू हुई। धीरे-धीरे धर्मवीर भारती जी, आचार्य सीताराम चतुर्वेदी, हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के साथ रहते हुए, मेरा गज़ल पक्ष कमजोर होता गया। लेकिन, मैं अभी भी कार्यशाला में गज़ल के बारे में बताने के लिए जाता हूँ। मुझे बहुत दुःख होता है कि नई पीढ़ी गीत छोड़कर गज़ल लेखन को ज्यादा प्रश्रय देती है। उसका कारण यह है कि गीत में एक केंद्रीय भाव होता है, जिसका शुरू से अंत तक निर्वाह करना पड़ता है। गज़ल में यह बंधन नहीं है। एक शेर आप पटना का, दूसरा कलकत्ता का, तो तीसरा शेर हैदराबाद का लिख सकते हैं। उसके बीच में कोई तारतम्यता नहीं होती है। उर्दू में परिवेश के अनुकूल लिखा जा सकता है। इस कारण उर्दू के पास न तो अपना व्याकरण है और न ही अपना महाकाव्य है। हिन्दी में महाकाव्य है क्योंकि हिन्दी का एक स्थापित जीवन रहा है। अतः उसके गीत का केंदीय विषय है। मैं अपनी नई पीढ़ी को बताता हूँ कि गज़ल तुम लिखते हो, लिखो, लिखने में कोई हर्ज नहीं है। उसका भी एक सांचा है, छंद का एक सांचा है। तुम किसी भी सांचे को ले सकते हो, लेकिन तुम अपनी वल्दियत क्यों बदल देते हो? वे समझ नहीं पाते हैं कि वल्दियत क्या होता है। मैंने उसे स्पष्ट करते हुए कहा कि जब तुम सांचा का उपयोग करते हो तो मिट्टी अपनी क्यों नहीं रखते हो? मिट्टी की जगह पर तुम अरब से बालू लेकर क्यों भरते हो? मैं उन्हें समझाते हुए कहता हूँ कि तुम्हारे पिता कब्र में हैं या उनकी चिता जला दी। कहते हैं- नहीं, नहीं उनकी चिता जली। तब तुम अपने लिए कैसे कहते हो कि मेरे कब्र में पाँव है। मान लीजिए, शेर में 'कब्र' शब्द आता है, तो तुम कैसे कब्र की बात कह सकते हो? तुम्हारे संस्कार में है क्या? कविता तो चेतना से आती है, आत्मा से निकलती है। तुम्हारी आत्मा में कब्र कहाँ से आ गया? ऐसे कुछ शब्द हैं, जो दूसरे तरह की परिभाषा को मान्यता देते हैं। जैसे- एक शब्द है 'सदका'। सदका का अर्थ है- ईश्वर, जो उनका अल्लाह है, वो एक का जीवन, प्राण लेकर दूसरे को प्राण दे देता है। इसे स्पष्ट करने के लिए हुमायूँ और बाबर का उदाहरण लिया जा सकता है। हुमायूँ बीमार होकर मर रहे थे, तो बाबर ने सदका किया कि मेरी जान ले लीजिए, इनको बचा लीजिए और अल्लाह ने उन्हें बचा लिया। ये सदका हमारा कॉन्सेप्ट नहीं है। हमारा ईश्वर अनंत है। ईश्वर का छोटा-सा अवतार है-राम। वे एक बार कृपा दृष्टि करते हैं और लंका के युद्ध क्षेत्र में हजारों मृत

पड़े वानर जीवित होकर उठ खड़े हो जाते है। इतना अमृत तत्व है। फिर हम कैसे सदका की बात करेंगे? हम प्रार्थना और आरती की बात कर सकते हैं। इसे समझाने के लिए मैंने एक उदाहरण दिया।

'आपकी याद आती रही रातभर
चश्म-ए-नम मुस्कुराती रही रातभर'

मख़्दूम साहब की यह बहुत प्रसिद्ध गज़ल है। उनके शिष्य, जो शायद पाकिस्तान में हैं। उन्होंने मख़्दूम की मृत्यु के बाद उन्हीं के पैटर्न पर दूसरा गज़ल लिखा।

'आपकी याद आती रही रातभर
चाँदनी दिल दुखाती रही रातभर।'

ये मानसिकता उर्दू शायरी की मानसिकता है। आप जब गज़ल लिखते हो, तो उसमें आपकी मानसिकता बोलनी चाहिए। अब सवाल है कि ये कैसे होगा? यदि मैं इसको गज़ल में लेना चाहूँगा तो मैं उसी सांचे का उपयोग करते हुए अपनी बात कुछ इस तरह कहूँगा।-

'आपकी याद आती रही रातभर
नींद धुनी रमाती रही रातभर
एक बीमार बच्चे की मजबूर माँ
देवियों को मनाती रही रातभर
कोई मेढ़ों को विरहा सुनाता रहा
कोई मेंहदी रचाती रही रातभर।'

मैं यही कहता हूँ कि तुम गज़ल लिखो, लेकिन उसमें तुम्हारी आत्मा, दिल और दिमाग बोले। ऐसा नहीं कि तुम पूरा-का-पूरा नकल करो। आपकी गज़ल में मौलिकता होनी चाहिए। ऐसा लगे कि यदि कलानाथ गज़ल लिख रहे हैं तो कलानाथ ही उसमें हो, उसमें मुसरर्फ मियां न आ जाएँ। यह बहुत छोटी बात है, लेकिन अपने-आप में बड़ी बात भी है। हम जो लिखते हैं, उसमें हमारा संस्कार बोलना चाहिए।

कलानाथ - आपकी बहुत-सी गज़लें हैं। यदि आपको पसंद हो तो एक-दो गज़ल सुनना चाहूँगा। संभव हो तो सुना दीजिए।

बुद्धिनाथ मिश्र - मिश्र जी, इसमें पसंद वाली कोई बात नहीं है। गज़ल तो मैंने बहुत लिखा, किन्तु जब लोग उसका बहुत उपयोग नहीं करते हैं तो वह स्मरण से गायब हो जाती हैं। मैं अपनी गज़लें कम ही सुनाता हूँ। मेरे संग्रह 'शिखरिणी' में कुछ गज़लें हैं। उनमें से एक गज़ल है, जो महाराष्ट्र के कक्षा सात के पाठ्यक्रम में लिया गया। वह पुस्तक लगभग बीस लाख छपती हैं और बीस लाख बच्चों तक जाता है। वो गज़ल है-

'कुछ खोकर कुछ पाकर देख
दुनिया नई बसाकर देख'

वैसे आप जिस ओर संकेत कर रहे हैं, उसे मैं सुना दे रहा हूँ। ये मैंने लगभग अस्सी के आस-पास लिखा था। वह पुरानी डायरी में पड़ी हुई थी, उसका उपयोग हुआ नहीं था। एक दिन मुझे ऐसा लगा कि कोई इससे मिलता-जुलता कुछ सुना रहा है। मैंने उसे निकालकर देखा, तो पाया कि उन्होंने उससे थोड़ा-सा मिलता-जुलता निकाल लिया है। मैं आपको मूल रचना सुना रहा हूँ।

'अभी तो सपने नए-नए हैं
अभी तो हसरत नई-नई है
अभी न जाओ यूँ रूठकर तुम
अभी मुहब्बत नई-नई है।
न चाहकर भी दिया है तुमने
किसी को दिल ये मुझे पता है
ये आँखें कहती है जागने की
तुम्हारी आदत नई-नई है।
मुझे यकीं है चुरा के नज़रें
वो देख लेगा कभी इधर भी
वो देवता है पुराना आशिक
मेरी इबादत नई-नई है।
ये जिस्म सोने का, ये जवानी
चली है आवे रवां पहनकर
बचा के रखना बुरी नज़र से
तुम्हारी दौलत नई-नई है।
अजीब शह है ये बूत परस्ती
दिए जलाए हैं आँधियों में
बुझा-बुझाकर थका जमाना
हमारी हिम्मत नई-नई है। '

इस संदर्भ में मैं एक बात और कहना चाहूँगा। पहली कि मैंने एक-दो बात प्रतीक के माध्यम से कही और दूसरी शब्दों के माध्यम से कही। हम जब हायकू लिखते हैं तो हिन्दी में लिखते हैं नाकि जापानी में। उसी तरह हम जब गज़ल लिखें, तो फारसी में न लिखें। आप गौर करेंगे कि मैंने अरबी-फारसी के उन्हीं शब्दों को लिया है, जिनको हिन्दी में नागरिकता प्राप्त है। एक होता है कि आप दूसरे देश के बीसा पर आए हैं और एक है कि आपको यहाँ की नागरिकता मिली है। जन्मजात मिली है या अन्य दूसरे प्रकार से। बीसा पर बहुत दिन रहने पर भी नागरिकता मिल जाती है। जैसे इसमें हसरत, जमाना या हिम्मत शब्द है। इन सभी शब्दों को

हिन्दी में नागरिकता प्राप्त है। इसलिए मैंने इनका प्रयोग किया है। जिन शब्दों को नागरिकता प्राप्त नहीं है, मैं उनका प्रयोग नहीं करता हूँ। अक्सर देखते है कि गज़ल लिखते समय लोग 'दरख़्त' शब्द को प्रयोग करते हैं, जबकि हिन्दी में पच्चीस शब्द पेड़ के पर्यायवाची हैं। सबके अलग-अलग अर्थ हैं। जैसे- पादप है। पादप शब्द का क्या अर्थ हुआ- पाँव से भीगनेवाला। हमारी हिन्दी में एक-एक शब्द का अर्थ है, उसमें ज्ञान है। आज हम मंगलग्रह पर जा रहे हैं, उसके लिए हमारे पूर्वजों ने क्या शब्द रखा था- 'भौम', जिसका अर्थ होता है- भूमि से उत्पन्न। ज्योतिष में इसके लिए 'कुज्य' शब्द है। जिसका अर्थ है मंगल और 'कु' मतलब पृथ्वी अर्थात् पृथ्वी से उत्पन्न। ये ज्ञान था। भूगोल-हम पहले कह चुके हैं कि भू गोल है यानि पृथ्वी गोल है। विज्ञान जिस बात को अब तक तय नहीं कर पाया है, वह हमारे पूर्वज पहले ही कह चुके हैं। वह है खगोल, जिन्हें हम खगोलशास्त्री कहते हैं। यानि आकाश भी गोल है, अंतरिक्ष भी गोल है। क्या हम वहाँ कभी पहुँच पाएँगे? हमें इसकी परिक्रमा करने में दो-चार हजार करोड़ वर्ष लग जाएगा, तब भी यह संभव नहीं है। यह अनंत है। उनकी स्थापना ये है कि जिसका आदि और अंत नहीं मिलता है, वह गोल है। इसी कारण शून्य की स्थापना हुई। शून्य का कहीं से आदि-अंत नहीं है। उसे कहीं से भी घुमाइए। इसी से चक्र बना। चक्र बना, तो सृष्टि और सभ्यता का विकास हुआ। हमारा आदि और अंत है क्योंकि ऊपर से नीचे तक एक आदि और अंत है। लेकिन जो गोल चीज है, उसका आदि-अंत नहीं है। मैं इसलिए कहता हूँ कि हमारे जो शब्द हैं- जैसे यदि मैं वृक्ष की बात करूँ, तो वृक्ष भी है, पेड़ भी है, द्रुम भी है। आप इन शब्दों को क्यों नहीं लाते हैं? आप क्यों दरख़्त के पीछे पड़े रहते हैं। खोज-खोजकर ऐसे शब्दों को ले आते हैं, जिन्हें शब्दकोश में ढूँढना मुश्किल होता है। उर्दू-दाँ लोग भी शब्दकोश देखें। ये लोग इसी में खुश हो गए कि हमने इनको भी डिक्शनरी दिखवा दी।

कलानाथ - गीत और नवगीत गज़ल के संबंध में आपके विचार अत्यंत महत्वपूर्ण और मौलिक हैं। आपकी रचनाओं में भारतीय संस्कृति का प्रभाव है। बनारस में बिताए उन दिनों के संस्कार भी आपकी रचनाओं में दिखते हैं। आप युवा रचनाओं, गीतकारों के लिए आप क्या संदेश देना चाहेंगे?

बुद्धिनाथ मिश्र - मैंने तो पहले ही कह दिया कि रचना में रचनाकार के संस्कार दिखना चाहिए नहीं तो रचना बनावटी हो जाती है।

कलानाथ - मिश्र जी, साहित्य यात्रा परिवार की ओर से आपका बहुत-बहुत धन्यवाद।

डॉ. कलानाथ मिश्र, 'अभ्युदय', ई-112, श्रीकृष्णपुरी, पटना-800001 (बिहार)
मोबाइल : 9835063713, ई-मेल : sahityayatra@gmail.com, kalanath@gmail.com

✧ ✧ ✧

नैनं दहति पावकः

सुधा गोयल

मैं वहाँ से हटकर उधर चल देता हूँ, जहाँ मेरी प्रियतमा नतमुख किए बैठी है। सबकी निगाह में वह मेरी धर्म बहन है। इससे राखी बंधवाता हूँ। यह सिर्फ समाज की आँखों में धूल झोंकने के लिए था। वह भी बैठी सोच रही है- 'चलो अच्छा हुआ, जो माथुर का बच्चा मर गया। पीछा तो छूटा। कंजूस तो इतना कि कुछ मत पूछो। बस फोकट में देह चाहिए। देने के नाम पर सब कुछ पत्नी के नाम पर छोड़ गया होगा। यह नहीं हुआ कि दस पाँच लाख मेरे नाम कर देता। ऐसे आदमी का क्या दुःख मनाऊँ। पता नहीं क्यों इसकी मीठी-मीठी बातों में आ गई।'

दृश्य बदलता है। मेरी बहन आ गई है। कपड़ा हटाकर मेरा चेहरा देखती है। फिर अपनी भाभी के गले मिलकर रोती है। पत्नी खूब बिलख-बिलख कर रो रही है। मेरी समझ में नहीं आ रहा। मैंने प्रताड़ना के अलावा कोई ऐसा सुख इसे नहीं दिया था, जिसे याद करके रोती। बहिनों को भी कोई खास मान-सम्मान नहीं दिया।

अभी कुछ देर पहले ही मेरी मृत्यु हुई है। मैं अपना शरीर छोड़कर धूम्ररेखा की तरह ऊपर उठ रहा हूँ। हवा के झोंकों से कभी इधर कभी उधर झूम जाता हूँ। मुझे भय भी लगता है, पर तभी ध्यान आता है कि भय कैसा? अब तो मैं मुक्त हूँ। आजाद हूँ। नैनं छिदन्ति शास्त्रणी, नैनं दहति पावकः। मैं खुश हूँ। अपनी इस आजादी का जश्न मनाना चाहता हूँ, पर कैसे? अपनी खुशी मैं किसी के साथ व्यक्त नहीं कर सकता। किसी के साथ मिलकर नहीं मना सकता, केवल महसूस कर सकता हूँ। यह महसूस करना भी कितना सुकून भरा है। शरीरधारी व्यक्ति इस सुकून को समझ नहीं सकता।

चिंता मुक्त होना भी एक सुकून है। अब न मुझे समाज की चिंता है न परिवार की। न अब मुझे कोई बीमारी है न डॉक्टर के पास जाना है, न दवाइयाँ खानी है न इंजेक्शन लगवाने हैं। जब देह ही नहीं है तब उससे सम्बन्धित दुःख कैसा।

अब न घर की जरूरतों के लिए थैला लटकाए बाहर जाना है और न पेंशन लेने ऑफिस। अब तो कोई काम ही नहीं है। सारे काम शरीर के थे। सारे सुख-दुःख भी शरीर के थे। शरीर भी पुराने कपड़े जैसा जर्जर हो गया था। उसे ठीक रखने के लिए समय-समय पर पैच लगाने पड़ते थे। कितनी बार चीरफाड़ करानी पड़ी। देह दुखती, तो मुँह से आह

निकल ही जाती।

खैर, मैंने सोचा कि आज जश्न मनाऊँगा तो मनाऊँगा ही। लेकिन अकेले-अकेले बात कुछ जमती नहीं, पर जमानी तो पड़ेगी ही। मैंने निश्चय किया है कि मैं अपनी देह के ऊपर आंगन में स्थित हो सारे क्रियाकलाप देखूँ। मुझे कौन कितना चाहता था तथा कौन कितनी घृणा करता था, सब पता चल जाएगा। सबके मुखौटे उतर जाएँगे। पर यह क्या? पत्नी के पास तो फूटी कौड़ी भी नहीं है, क्रिया कर्म कैसे करेगी। मैंने भी कितनी बड़ी गलती की। कुछ पैसे उसके खाते में डाल देता या घर ही लाकर रख देता। दस लाख पी.पी.एफ.में ही हैं। मैंने तो किसी को अपना उत्तराधिकारी भी नहीं बनाया है। उन पैसों के विषय में कोई जानता भी नहीं है। वह तो बैंक में ही रह जाएँगे। क्या मैं पुनः शरीर में प्रवेश कर कुछ पैसे पत्नी को दे सकता हूँ। चलो कोशिश करता हूँ।

पर यह क्या? प्रवेश कहाँ से करूँ? प्रवेश के सभी रास्ते अवरुद्ध हो चुके हैं। सभी जगह रुई ठूंस दी गई है। मुँह में तुलसी दल भरे है। गुप्तांगों में आटे के पिंड हैं। वायु आने-जाने का कोई भी मार्ग खुला नहीं है। खैर, चलो अब तो तमाशा और भी रोचक होगा। देखता हूँ सारी व्यवस्था कैसे होती है। अब आया ऊँट पहाड़ के नीचे। पत्नी माथे की बिंदी और माँग का सिंदूर पहले ही पोंछ चुकी है। विलाप करते हुए उसने काँच की चूड़ियाँ भी तोड़ डाली हैं। सिर ढ़के मुख नीचा किए निरीह-सी बैठी है। कैसी कुम्हला गई है। उसके चेहरे का सारा तेज झुलस गया है। कितनी दयनीय लग रही है। बीच-बीच में हिचकी लेती है। सारी देह हिल जाती है। रोते-रोते कह रही है -

'मैंने लाख कोशिश की, अपनी सामर्थ्य भर इलाज कराया, लेकिन बचा न सकी। मेरे भाग्य में वैधव्य ही लिखा था।'

मुझे पत्नी पर तरस आता है पहले ही कौन सधवा थी। माथे पर बिंदी लगाने या माँग में चुटकी भर सिंदूर लगाने से कोई सधवा नहीं हो जाता पर समाज का मानना यही है। मैं इसमें क्या कर सकता हूँ? जब भी कोई रिश्तेदार औरत आती है, पत्नी से गले मिलकर रोती है। यह रोना थोड़ी-थोड़ी देर रुक-रुक कर चल रहा है, मेरी मृत देह जमीन पर एक चादर बिछाकर उस पर लिटाई गई है। एक चादर ऊपर से ढकी है।

पत्नी गले का मंगलसूत्र और हाथों की सोने की चूड़ियाँ उतार कर दामाद को दे रही है- 'लल्ला , अपने ससुर की अंतिम यात्रा की तैयारी करो।'

'मम्मीजी ये सब अभी अपने पास रखो। मैं व्यवस्था कर रहा हूँ।' वह लेने से इंकार करता है।

'अभी रखो। वैसे भी ये सब मेरे किस काम के हैं। दामाद का पैसा ससुर के अंतिम संस्कार में लगे ये अनुचित है।'

'मैं बाद में ले लूँगा। अब इसी काम के लिए बाजार जाना उचित नहीं लगता। मैं साले साहब से बात करता हूँ।'

पत्नी चुप कर जाती है। उसे दामाद की बात जमी है। मैं भी देख रहा हूँ कि कौन क्या-क्या करता है। लड़का पाँच सौ की गड्डी निकाल कर दामाद को थमाता है। मुझे ताज्जुब हुआ। जीते जी जिसने कभी मुड़ कर मेरी तरफ नहीं देखा, वह नोटों की गड्डी निकाल रहा है। मैं सब समझता हूँ। मेरे जाने के बाद मेरा सारा पैसा निकाल लेगा। मेरे ऑफिस वालों से इसीलिए सम्पर्क बनाए रखता है। मैं इसकी नस-नस से वाकिफ हूँ। माँ की ओर हमदर्दी के चार जुमले उछाल कर मकान भी हथिया लेगा।

तभी मेरी सोच दूसरी ओर मुड़ती है। अब सोचता हूँ कि मैंने ही इसके लिए क्या किया। इसे पैदा करने के बाद इससे कभी सीधे मुँह बात ही नहीं की। कभी प्यार से सिर पर हाथ नहीं रखा। कभी सुख दुःख नहीं बाँटा।यदि उसने भी दूरियाँ बना लीं तो इसमें इसका क्या कसूर? वह अपने पुत्र होने का फर्ज तो निभा रहा है। मैं अपने पिता होने का फर्ज नहीं निभा पाया।

पास पड़ोसी और रिश्तेदारों का आना जारी है। स्थानीय लोग सूचना मिलते ही आ पहुँचे। हाँ बाहर से आने वालों में वक्त लगेगा। लोग आपस में खुसर-पुसर कर रहे हैं। मैं उनके ऊपर वायुमंडल में स्थित हूँ। यह विनोद ऐसे भाग दौड़ कर रहा है जैसे इसी का बाप मरा हो। मेरा लाखों रुपया तो इसी के पास है, जिसकी कानों कान किसी को भनक भी नहीं है। साला सब डकार जाएगा। मेरे रुपए से ही उसने अपना मकान खड़ा कर लिया है।

यह मेरे पड़ोसी हैं, जिनसे रोज आते-जाते दुआ सलाम होती रहती थी। कभी सुख-दुख में हाल-चाल पूछ लेते थे। वर्ना अपने काम से काम। हाँ सुबह-सुबह पार्क में टहलते समय खूब ठहाके लगते थे। राजनीति धर्म या देश के वर्तमान हालात पर खूब चर्चा होती। खूब जिंदा दिल थे मसूर साहब। उनकी कमी खलती रहेगी।

यह दूसरी तरफ चार-पाँच व्यक्ति एक ग्रुप में खड़े हैं। यह मेरे ऑफिस के सहयोगी हैं। यह गुप्ता का बच्चा ऐसे कामों में सबसे आगे रहता है। आज भी सारे कार्यक्रम का सूत्रधार वही है। कैसी अकड़ से कह रहा है कि मैं अपने दस साथियों को तो श्मशान तक पहुँच चुका हूँ मेरे कंधे कितने मजबूत है।

'ठीक कहते हो गुप्ता। क्या पता कल तुम्हें श्मशान पहुँचाने को कोई कंधा ही ना मिले' - राजेश ने चुटकी ली।

आगे बढ़ता हूँ यह मेरे भाई बांधव हैं मुझे मन ही मन गालियाँ दे रहे हैं और मेरी बखिया उधेड़ने में लगे हैं, जिसमें मेरा पुत्र और दामाद भी शामिल है। पुत्र कह रहा है हद दर्जे के कंजूस थे। माँ को कभी दो पैसे नहीं दिए। माँ हमेशा खाली हाथ पैसे-पैसे को तरसती रही। अभी भी खाली हाथ बैठी है। पता नहीं वक्त कैसे गुजरेगा।

'जब तक जीवित रहा कभी पल भर चैन नहीं लेने दिया। सुख नाम की चीज उसके जीवन में कभी नहीं आई। केवल दुखी उढ़ाता-बिछाता रहा। बेचारी ने कभी न ढंग से खाया न पहना।

केवल रात-दिन प्रतीक्षा करती रही। आधी-आधी रात को जुआ खेल कर खा-पी कर घर लड़खड़ाता लौटता। लौट कर उसे गालियाँ बकता। वह बेचारी बकरी-सी मिनमिनाती रहती। हमने तो इसीलिए इससे अपने ताल्लुकात कम कर दिए।' यह मेरा बड़ा भाई है।

'मैं भी अपने बच्चों के साथ अलग रहने लगा, रोज की चिक-चिक से तो जान छूटी'- यह मेरा सपूत था।

'शादी के प्रारंभिक दिनों में हम झूठ बोलते। किसी काम का बहाना बनाते। ढूँढ कर लाने का ढोंग करते। आखिर झूठ को एक दिन बेपर्दा होना ही था। एक दिन भौजी ने कहा- 'भैया अपने भाई की कमियाँ कब तक छुपाओगे? अब बहाने बनाने बंद भी करो। मैं सब जान गई हूँ।' इसने तो हमारी गर्दन कभी ऊपर उठने नहीं दी। शर्म से झुकी ही रही। भौजी के प्रति हम भी कम अपराधी नहीं है। ऐसे व्यक्ति को शादी नहीं करनी चाहिए थी। लेकिन माँ भविष्य देख रही थी कि शायद संभल जाए लेकिन जीवन पूरा हुआ पर वह नहीं संभला'। यह मेरा अनुज था।

'अब मम्मी का शेष जीवन चैन से कटेगा'- ये मेरे बेटी और दामाद हैं। यानि मैं सबकी आँखों में खटकता रहा। बस मेरे सामने ही किसी को कुछ कहने की हिम्मत नहीं थी। आज मैं नहीं हूँ, तो सब बातें बना रहे हैं। जब इस औरत को रोटी खिलाएँगे तब जानूँगा। इन सबके बूते पर ही अकड़ दिखाती थी।

वायुमंडल में स्थित होते हुए भी मैं क्रोधावेश में कांपने लगता हूँ और रुई के गोले की तरह इधर-उधर घूमने लगता हूँ। यह मुझे क्या हो रहा है। मैं तो सुख-दुःख से ऊपर हूँ। शान्त हूँ। फिर ऐसे विकार क्यों आ रहे हैं।

मैं वहाँ से हटकर उधर चल देता हूँ जहाँ मेरी प्रियतमा नतमुख किए बैठी है। सबकी निगाह में वह मेरी धर्म बहन है। इससे राखी बंधवाता हूँ। यह सिर्फ समाज की आँखों में धूल झोंकने के लिए था। वह भी बैठी सोच रही है- 'चलो अच्छा हुआ जो माथुर का बच्चा मर गया। पीछा तो छूटा। कंजूस तो इतना कि कुछ मत पूछो। बस फोकट में देह चाहिए। देने के नाम पर सब कुछ पत्नी के नाम पर छोड़ गया होगा। यह नहीं हुआ कि दस पाँच लाख मेरे नाम कर देता। ऐसे आदमी का क्या दुःख मनाऊँ। पता नहीं क्यों इसकी मीठी-मीठी बातों में आ गई।'

दृश्य बदलता है। मेरी बहन आ गई है। कपड़ा हटाकर मेरा चेहरा देखती है। फिर अपनी भाभी के गले मिलकर रोती है। पत्नी खूब बिलख-बिलख कर रो रही है। मेरी समझ में नहीं आ रहा। मैंने प्रताड़ना के अलावा कोई ऐसा सुख इसे नहीं दिया था, जिसे याद करके रोती। बहिनों को भी कोई खास मान-सम्मान नहीं दिया। बस खून का रिश्ता मात्र निभाता रहा। हाँ, वे जरूर उसके हिमायती और मेरे विरोधी रहीं। इसीलिए मैं उन्हें पसंद नहीं करता था। शायद रोना भी एक परम्परा है, जिसे निभाना जरुरी है।

पत्नी जिसे मैंने पत्नी कम, फालतू का सामान अधिक समझा। कभी उसके मान-सम्मान की चिंता नहीं हुई। किसी के सामने भी डांट या पीट देता, जिसमें मैं अपनी मर्दानगी समझता। उसका मुझसे अधिक पढ़ा-लिखा होना ही सबसे बड़ा दोष था। वह जितनी पढ़ी है उतनी ही धीर गम्भीर है। मैं उतना ही कृतघ्न, उच्छृंखल और कमीना। वह रात-रात भर जागकर मेरी सेवा करती। फल, दवाई, डॉक्टर सब उपलब्ध कराती। अपने आप नहलाती, कपड़े धोती, अपने हाथ से खाना खिलाती। फिर भी मैं उसे शब्द शरों से घायल किए बिना न रहता।

वह छाया-सी मेरे साथ लगी रहती। जब कैंसर के कारण मेरे गले में खाना जाना बंद हो गया तब वह फलों का जूस निकालती, शेक बनाती, सब्जियाँ उबाल कर पीसती। उसी में रोटी पनीर सब मिला देती। मैं कमजोर न पड़ जाऊँ इसीलिए पूरी खुराक देती। दूध दही की कोई कमी न करती। सारा दिन फोन पर डॉक्टरों से बात करती। मुझे दिखाने ले जाती। एक कंधे पर बैग, हाथ में फाइल और दूसरे हाथ से मुझे पकड़े रहती। बेटा फोन पर माँ को घुड़कता- 'ये क्या माँ? आप अकेली पापा को लिए घूमती है। वह उत्तर देती- 'तो क्या हुआ। जब तक सांस तब तक आस। मेरे मन में यह तो अफसोस नहीं रहेगा कि मैंने ढंग से इलाज नहीं कराया। मैं अपनी तरफ से पूरी कोशिश कर रही हूँ, बाकी ऊपर वाला जाने।'

बेटी पूछती- मम्मी, आप पापा को कैसे सह पाती हैं?

.....'यानि मैं साँप हूँ। विष उगलता रहता हूँ। क्यों रहती है साँप के साथ? कभी मेरा विष तुझे चढ़ा नहीं?'

मैं उसकी चोटी पकड़ कर खींच देता और कमर में एक लात जमा देता। बेटी माँ की दुर्दशा देखकर रोने लगती।

'तू क्यों रोती है लाड़ो जब मैं ही नहीं रो रही। ऊपर वाला सब देखता है।'

ठीक कहती थी वह कि ऊपर वाला सब देख रहा है। उसने ऐसा देखा कि मैं बोलने के काबिल ही न रहा। कुछ सटकने लायक नहीं रहा। पल-पल अपनी मृत्यु का इंतजार करने लगा। लेकिन उसने मेरे इलाज में कोई कसर नहीं छोड़ी। सारे रिश्तेदार और पड़ोसी जानते हैं। उसका मान सबकी निगाहों में बढ़ गया है। उस जैसी पतिव्रता स्त्री हो ही नहीं सकती। फिर मेरे जाने पर बिलख-बिलख कर रो रही है। बेटे ने भी कंधे से लगाकर चुप नहीं कराया है और न यह कहा कि तुम चिंता मत करो। मैं हूँ न। पुत्र ने कुछ आदतें मेरी भी पायी हैं। कहता भी कैसे? मरी बिल्ली कौन गले में बांधे?

फिर भी मैं यह जानने को आतुर हूँ कि उसके रोने का क्या कारण है। उसकी गरीबी.... नहीं स्वाभिमानी व्यक्ति कभी गरीब नहीं होता। उसने मुझसे कभी एक पैसा नहीं माँगा। वह स्वाभिमानी है। भूखी रह लेगी, मेहनत कर लेगी, लेकिन किसी के आगे हाथ नहीं फैलाएगी। वह कहती हैं - जिसने पेट दिया है वह रोटी भी देगा। वह अपने बच्चों को भूखा नहीं सुलाता। मैं

जानता हूँ कि मैंने उसके लिए कुछ नहीं छोड़ा। यह उसके रोने की वजह नहीं हो सकती। मैं उसे भिखारिन के रूप में देखना चाहता था। यह इच्छा तब भी पूरी नहीं हुई। अब भी नहीं होगी लेकिन रोने का कारण....?

मैं उसके मन में गहरे तक उतर जाता हूँ। वह चाहती थी कि पहले मैं मरती और मैं पत्नी के बिना अभावों में तड़पता पल-पल जीता। इसीलिए उसने इतनी सेवा कर बचाना चाहा। यह उसकी हार का रोना था। इसीलिए वह मेरे जाने से दुखी थी।

मुझे मरे चार घंटे ही गए हैं। लगभग सभी नाते -रिश्तेदार आ गए हैं। अब मुझे नहलाया जा रहा है। पंडित आ चुका है। नाई पुत्र का सिर मूंड रहा है। सफेद वस्त्रों में वह मेरे पास खड़ा है। तिलक लगाकर मुझे फूलों से ढंक दिया गया है। सफेद कफन से मुझे ओढ़ा दिया है। मेरा चेहरा अभी खुला है। रिश्तेदार चादर ओढ़ाकर प्रणाम कर रहे हैं। पौत्र व बहुएँ पैर छू रही है। पत्नी ने अपने सभी सुहाग चिह्न उतारकर मेरी छाती पर रख दिए हैं। जैसे कह रही हो कि आज से मेरा तुम्हारा नाता खत्म। जिन सुहाग चिह्नों के नाम पर तुम मुझे बांधे रहे, मैं आज तुम्हें उनसे मुक्त कर स्वयं भी मुक्त हो रही हूँ। प्रभु अगले जन्म में तुम्हें सद्‌बुद्धि दे और मेरा तुम्हारा यही सातवां जन्म हो।

एक बार फिर रोने के स्वर तेज होते हैं। काठी बांधी जा चुकी है। घंटे घड़ियाल बज रहे हैं। कुछ हाथ काठी उठाकर कंधे पर रख लेते हैं। पुत्र सबसे आगे हैं। सब राम नाम सत्य है कहकर आगे बढ़ रहे हैं।

मैं उनके साथ-साथ हवा के झोंकों पर सवार श्मशान की ओर जा रहा हूँ। चिता तैयार है। भंगी मेरे ऊपर पड़ी चादरें उतार लेता है। मुझे चिता पर लिटा दिया जाता है। श्मशान का पंडित कुछ मंत्र पढ़ता है और जल छिड़कता है। मेरे ऊपर लकड़ियाँ रख दी जाती हैं। पंडित एक लकड़ी का सिरा घी में डुबोकर जलाता है। मुझे भय सताने लगता है। मैं अब नष्ट हो जाऊँगा लेकिन तभी आत्मा आभास कराती है - तुम जीवन मरण से दूर हो। नैनं दहती पावकः। और चिता धू-धूकर जलने लगती है।

एक धूम्र रेखा तेजी से उठकर ब्रह्मांड में विलीन हो जाती है।

सुधा गोयल, 290-ए, कृष्णानगर, डॉ. दत्ता लेन, बुलंद शहर-203001
मो. : 9917869962

✧ ✧ ✧

''कहानी अपने प्रारंभ से अब तक...''

राजेन्द्र सिंह गहलौत

हिन्दी कहानी के इतिहास में भारतीय मूल के प्रवासी कहानीकारों के योगदान को अनदेखा नहीं किया जा सकता। भारत से जा कर विदेश में बस जाने के बावजूद भी हिन्दी भाषा में उनका कहानी लेखन उनके भारतीय संस्कृति एवं हिन्दी भाषा के प्रति अनुरोग का परिचायक है। भारतीय प्रवासी हिन्दी कहानीकारों की सूची लंबी है। वे विदेश में अमेरिका, ब्रिटेन, पोलैंड, कैनेडा, डेनमार्क फ्रांस, नार्वे, मॉरीशस, सूरीनाम आदि देशों में रहते हुए भी हिन्दी भाषा में कहानी लेखन तथा साहित्य की अन्य विधाओं में साहित्य सृजन कर रहे हैं। सबसे पहले हमारा ध्यान मॉरीशस में रह रहे भारतीय मूल के साहित्यकार अभिमन्यु अनंत की ओर जाता है। उनके पूर्वज अन्य भारतीयों के साथ अंग्रेजों द्वारा मॉरीशस में गन्ने की खेती के लिए बतौर मजदूर लाए गए थे। मॉरीशस में जन्म के बावजूद अनंत ताउम्र हिन्दी साहित्य के प्रति समर्पित रहे। प्रवासी भारतीय कहानीकारों की कहानियों में दो संस्कृतियों की सिर्फ झलक भर नहीं मिलती है अपितु दो संस्कृतियों के बीच मुठभेड़ भी दृष्टिगोचर होती है।

कहा जाता है कि कहानी कहन से जन्मी तथा कथा कथन से लेकिन न तो हर कहन को कहानी माना जा सकता है और न हर कथन को कथा। जब तक कहन में कोई घटना या अनुभव कल्पना का पुट देते हुए अभिव्यक्त न हो तब तक उस कहन को कहानी कैसे माना जा सकता है? इसी भाँति जब अतीत का कोई अख्यान विशिष्ट शिल्प के कथन में अभिव्यक्त होता है तो वह श्रोताओं के लिए कथा बन जाता है। यह कहा जाए कि कहानी का जन्म भाषा के जन्म के काफी पहले से हो गया था तो संभवतः गलत न होगा। भाषा के जन्मने के काफी पहले जब आदिमानव आखेट युग में जी रहा था तब वह अपने आखेट के अनुभव की कहानी गुफा में चित्रलिपि में अंकित कर अभिव्यक्त करता था, जिसके प्रमाण वर्तमान में भी प्राचीन गुफाओं में अंकित शैलचित्र के रूप में मिलते है। भाषा के जन्म के साथ ही कहानी लोक जगत में अलाव के चारों ओर बैठ कर कही और सुनी जाने लगी, तो घर में बूढ़ी दादी नानी द्वारा भी सुनाई जाने लगी। इतना ही नहीं राजा महाराजाओं बादशाहों के दरबारों तक कहानी जा पहुँची और वहाँ बकायदा किस्सागो नियुक्त किए जाने लगे। किस्सा कहने की विशिष्ट किस्सागोई कला जन्मी। इसी किस्सागोई कला से कही गई किस्सा कहानियों ने सनकी बादशाह शहरयार से हर रात अपनी नवविवाहिता को

कत्ल करने की सनक से उसकी बेगम शहरजाद को जीवनदान मिला। भाषा की लिपि के जन्मने के साथ जब कहानियाँ लिखी जाने लगी तो भारत में कहानियों का प्रचलन बीसवीं सदी से माना गया। जब कि इस संबंध में प्रतिष्ठित साहित्यकार आचार्य रामचंद्र शुक्ल का कथन है- ''जिस देश की ''पंचतंत्र'', ''हितोपदेश'', ''वृहत्कथा'', ''बेताल पच्चीसी'', ''सिंहासन बत्तीसी'' की कथाएँ सारे विश्व की भाषाओं में रच बस गई हो उसकी कहानियों का इतिहास मात्र बीसवीं सदी से कैसे माना जा सकता है।'' दरअसल प्राचीन भारत में कहानियाँ सिर्फ मनोरंजन के लिए कही सुनी नहीं जाती थी, बल्कि यह हिन्दू धर्म की विधियों, नीतियों, राजनीति तथा व्यावहारिकताओं की जटिलताओं को सरलीकृत कर शिक्षण देने के उद्देश्य से भी कहानियाँ प्रचलन में आई थी, जिसके प्रमाणस्वरूप ''पंचतंत्र,'' ''हितोपदेश'' की कथाओं एवं मिथकों का जहाँ जिक्र किया जा सकता है वहीं हिन्दू धर्म की विधियों के शिक्षण के संबंध में कहानियों की भूमिका के बाबद राधावल्लभ त्रिपाठी के आलेख ''भारतीय कथा परंपरा'' का यह अंश प्रस्तुत किया जा सकता है- ''ब्राह्मण ग्रंथों में यज्ञों की विधियाँ बताने के प्रसंग में अथर्ववेद की दृष्टि से इतिहास पुराण या आख्यानों की कहानियाँ प्रस्तुत की गई है, जिनसे कथा कहने की प्राचीन शैली का पहली बार परिचय मिलता है।''

हिन्दी भाषा में कहानी लेखन के साथ ही हिन्दी की पहली कहानी किसे माना जाए तब से अब तक विवादित है। हिन्दी भाषा की पहली कहानी की दौड़ में शामिल कहानियों में ''रानी केतकी की कहानी (1803 या 1808 ई.)'', नई खोज के अनुसार ''एक जमींदार का दृष्टांत (1871ई.)'', ''राजा भोज का सपना (1887ई.)'', ''इंदुमती (1900 ई.)'' एवं ''टोकनी भर मिट्टी (1901 ई.) का जिक्र किया जा सकता है। सैय्यद इंशाअल्लाह खां द्वारा लिखी कहानी ''रानी केतकी के कहानी'' फारसी लिपि में लिखी गई थी तथा अमेरिकन पादरी जे. न्यूटन की कहानी ''एक जमींदार का दृष्टांत'' महज ईसाई धर्म की प्रचार गाथा है। अतः इन्हें हिन्दी की पहली कहानी न मान कर सन् 1887 में शिव प्रसाद सितारे हिंद द्वारा लिखी कहानी ''राजा भोज का सपना'' को हिन्दी की पहली कहानी माना जाना चाहिए लेकिन वामपंथ से प्रभावित प्रतिष्ठित साहित्यकार कमलेश्वर ने ''सारिका'' में आयोजित एक लंबी बहस के बाद ''राज भोज का सपना'' कहानी के काफी बाद के कालखंड सन् 1901 में प्रकाशित माधवराज सप्रे की कहानी ''टोकनी भर मिट्टी'' को हिन्दी की पहली कहानी माना। लघुकथा से थोड़े से बड़े आकार की इस कहानी में जमींदार द्वारा गरीब वृद्धा के शोषण का कथानक शायद उन्हें वामपंथ की विचारधारा के अनुकूल लगा। जबकि '' राजा भोज का सपना'' कहानी का कथ्य धर्म, दान, मंदिर निर्माण आदि में आडंबर, आत्मप्रशंसा, दिखावा की प्रवृत का विरोध करता है। ''राजा भोज का सपना'' कहानी के इस कथ्य को ''टोकनी भर मिट्टी'' कहानी के कथ्य के सामने इतना हल्का कर के नहीं देखा जा सकता कि उसे ''हिन्दी की पहली कहानी'' के सिंहासन से उतार कर गुमनामी के अंधेरे में फेंक दिया जाए। जबकि कई पृष्ठों की वह एक मुकम्मल कहानी हैं, जिसमें एक पठनीय रोचक कथानक में उसके कथ्य को पाठकों के सामने प्रस्तुत किया गया है, जो वर्तमान में भी

प्रासंगिक है। लेकिन सन् 1907 में महिला कहानीकार राजेन्द्र बाला घोष (बंग महिला) की कहानी ''दुलाईवाली'' को किसी महिला कहानीकार की प्रथम कहानी के रूप में निर्विवादित रूप में स्वीकारा जा सकता है।

हिन्दी कहानी के सफर की शुरूआत बीसवीं सदी से मान कर यदि हम उसके साथ चले तो बीसवीं सदी के प्रथम दशक में लिखी गई कहानियों मे मास्टर भगवानदास की ''प्लेग की चुड़ैल (सन् 1903)'', पं. महेंद्रलाल गर्ग की ''पेट की आत्मकथा (सन् 1904)'', माधव प्रसाद मिश्र की ''लड़की की बहादुरी (सन् 1905)'', वृंदावन लाल वर्मा की प्रथम ऐतिहासिक कहानी ''राखीबंद भाई (सन् 1907), हेमंत कुमारी चौधरानी की ''घूंघटवाली (सन् 1908)'', जयशंकर प्रसाद की कहानी ''ग्राम'' एवं ''आकाशदीप'' (सन् 1911), राधिकारमण सिंह की कहानी ''कानों में कंगना (सन् 1913)'' आदि कहानियों का जिक्र किया जा सकता है। जबकि सन् 1900 में लिखी बाबू केशव प्रसाद की रचना ''चंद्रलोक की यात्रा'' को हिन्दी की पहली वैज्ञानिक कहानी के बतौर स्वीकारा जा सकता है।

इसी समय प्रेमचंद अपनी रचनाओं से बतौर कहानी उपन्यास सम्राट के रूप में तत्कालीन साहित्य जगत में स्थापित हुए, ऐसी स्थिति में आजादी के पूर्व की कहानियों को दो खंडों में विभक्त किया जा सकता है। पहला प्रेमचंद के पूर्व की कहानियाँ तथा दूसरा प्रेमचंद परावर्ती कहानियाँ। प्रेमचंद ने अपना प्रारंभिक लेखन उर्दू भाषा में किया था। सन् 1908 में उनका पहला कहानी संग्रह ''सोजेवतन'' प्रकाशित हुआ, जिसमें संग्रहित पांचो कहानियाँ मूलतः उर्दू भाषा में ही लिखी गई थी। जबकि प्रेमचंद की हिन्दी भाषा में लिखी पहली कहानी ''बड़े घर की बेटी'' है, जो सन् 1910 में जमाना पत्रिका में प्रकाशित हुई थी तथा उनका पहला हिन्दी भाषा का कहानी संग्रह ''सप्त सरोज'' सन् 1917 में प्रकाशित हुआ था। प्रेमचंद को मुख्यतः ग्राम्यांचल के प्रमुख कुशल चितेरे कहानीकार के बतौर जाना जाता है तथा ग्राम्य जीवन पर केंद्रित उनकी प्रमुख कहानियों में ''पूस की रात'', ''सवा सेर गेहूँ'', ''ईदगाह'', ''बैर का अंत'', ''पंच परमेश्वर'' आदि है। जबकि उन्होंने अपने युग के हर क्षेत्र का प्रतिनिधित्व अपनी कहानियों में किया है। स्वाधीनता प्राप्ति का उद्घोष करती उनकी कहानियाँ ''दुनिया का अनमोल रत्न'', ''जुलूस'', समरयात्रा'' आदि है, तो ऐतिहासिक कहानियों में ''ब्रजपात'', ''रानी सारंधा'' ''शतरंज के खिलाड़ी'' आदि का नाम लिया जा सकता है। वहीं ''मंदिर'', ''ठाकुर का कुआँ'', ''सदगति'', ''शूद्रा'', ''घासवाली'', आदि कहानियाँ उस युग में अछूतों, दलितों की दयनीय दशा को चित्रित करती है। इतना ही नहीं उन्होंने नगरीय जीवन तथा उद्योगों में श्रमिकों के जीवन पर भी कई कहानियाँ लिखी है, जिसमें ''मिल मजदूर'' तथा ''डामुल का कैदी'' कहानी का जिक्र किया जा सकता है। प्रेमचंद की अंतिम कहानी संग्रह ''कफन'' था, जिसमें 13 कहानियाँ संग्रहित हैं।

बीसवीं सदी के दूसरे दशक में सन् 1913 में ''रक्षाबंधन'' कहानी से विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक ने कहानी जगत में प्रवेश किया। इसी कालखंड में सन् 1915 में गुलेरी जी की प्रसिद्ध

कहानी ''उसने कहा था'' सरस्वती में प्रकाशित हुई जो कि संभवतः साहित्य जगत की एकमात्र युद्धकथा है। इसी समय लगभग 500 कहानियाँ लिखने वाले चर्चित कहानीकार उपन्यासकार आचार्य चतुरसेन की कहानी ''दुखवा मैं कासे कहूं सजनी'' प्रकाशित हुई तथा बीसवीं सदी के दूसरे दशक के अंत में सन् 1920 में सुदर्शन की बहुचर्चित आदर्शवादी कहानी ''हार की जीत'' प्रकाशित हुई, जिसमें पात्र बाबा भारती एवं डाकू खड्ग सिंह पाठकों की स्मृतियों में सुरक्षित हो गये।

बीसवीं सदी के तीसरे-चौथे दशक की कहानियों की प्रमुख उपलब्धि पांडेय बेचने शर्मा ''उग्र'' एवं जैनेन्द्र की कहानियाँ है। इस काल खंड में जहाँ उग्र की अमर कहानी ''उसकी माँ'' प्रकाशित हुई, वहीं सन् 1927 में उनकी बहु विवादित एवं अश्लीलता के लिए चर्चित कहानी ''चाकलेट'' भी प्रकाशित हुई। जबकि सन् 1929 में जैनेन्द्र का पहला कहानी संग्रह ''फांसी'' तथा सन् 1930 में ''वातायन'' प्रकाशित हुआ। जैनेन्द्र ने बाल मनोविज्ञान से संबंधित कहानियां ''खेल'', ''पाजेब'', ''इनाम'' आदि भी लिखी।

प्रेमचंद ने लगभग समाज के सभी वर्गों पर कहानी लिखी, लेकिन उनकी लिखी हुई आदिवासी वर्ग पर कोई कहानी नजर नहीं आती। लेकिन इस कालखंड में सन् 1924 में आदिवासी जीवन पर वैद्यानाथ पोद्दार की पहली कहानी, ''छोटा नागपुर'' पत्रिका में प्रकाशित हुई तथा सन् 1929 में मोहनलाल महतो की आदिवासी जीवन पर केंद्रित कहानी ''वनवासी'' प्रकाशित हुई। उसके बाद वर्तमान तक कई कहानीकारों ने आदिवासी जीवन पर कहानियाँ लिखी, जिनमें से नमिता सिंह की ''जंगलगाथा'', शानी की ''मछलिया'' एवं ''बोलने वाला जानवर'', मिथिलेश्वर की ''सिंगाबोगा की वापसी'', सी भास्तकर राव की ''जोहार गोपम दा'', राकेश कुमार सिंह की ''हांका'' आदि कहानियों का नाम लिया जा सकता है। इसी कालखंड में हास्य रस की कहानियाँ लिखने वाले जी.पी. श्रीवास्तव ने भी अपना खाता खोला।

दूसरे महायुद्ध से देश की आजादी तक के कालखंड में बंगाल का भीषण अकाल, देश का बंटवारा, शरणार्थी समस्या, साम्प्रदायिक दंगे, राजनीतिक उथल-पुथल, मंहगाई, कंट्रोल सभी के पदचिह्न उस काल में लिखी गई कहानियों में उभरते हुए दिखलाई पड़े। देश के बंटवारे का दर्द सबसे अधिक पंजाब ने झेला, जिसका प्रतिबिंबन पंजाब के कहानीकारों की कहानियों में अधिक दिखलाई पड़ता है। इस संबंध में पंजाब के कहानीकार कृष्णचंदर की ''पेशावर एक्सप्रेस'' तथा भीष्म साहनी की ''अमृतसर आ गया'' एवं उनकी अन्य कहानियों का जिक्र किया जा सकता है, वहीं देश विभाजन के बाद पाकिस्तान गए कहानीकार सआदत हसन मंटो की ''खोल दो'', ''ठंडा गोस्त'' आदि कहानियों का भी जिक्र किया जा सकता है। इस युग में यशपाल, रांगेयराघव, गुरूदत्त, अमृतलाल नागर, अमृतराय, उपेन्द्र नाथ अश्क, इलाचंद्र जोशी विष्णु प्रभाकर, बेनीपुरी आदि की कहानियाँ सामाजिक दायित्व के लिए प्रयत्नशील रही। प्रेमचंद के छोटे बेटे अमृतराय ने सन् 1938 से ''हम रखैल'' और ''मरूस्थल'' से कहानियों का लेखन प्रारंभ

कर लगभग 125 कहानियाँ लिखी। महादेवी वर्मा ने रेखाचित्र और स्मृतियों को संयुक्त कर कथा का रूप दिया, उनके संग्रह ''अतीत के काल चित्र (1941)'', तथा ''स्मृति की रेखाएं (1943) चर्चित हुए। जबकि सुभद्रा कुमारी चौहान की ''राही तथा ''तीन बच्चे'' कहानी सराही गई।

आजादी के बाद सन् 1955-56 में ''नयी कहानी आंदोलन'' उभरा तथा कहानी के स्वरूप में परिवर्तन आया। कहानीकार राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश और कमलेश्वर नयी कहानी आंदोलन की त्रयी के रूप में जाने गए। कमलेश्वर ने 300 से अधिक कहानियाँ लिखी तथा उनकी कहानी ''राजा निरबंसिया'', ''कस्बे का आदमी'', ''खोई हुई दिशायें'' अधिक चर्चित हुई वहीं राजेन्द्र यादव की जहां ''लक्ष्मी कैद है'', ''प्रतीक्षा'' आदि कहानियाँ चर्चित हुई, वहीं उनकी अंतिम कहानी ''हासिल'' समीक्षकों एवं पाठकों द्वारा नकारी गई तथा मोहन राकेश की चर्चित कहानियों में ''इंसान के खंडहर'', ''नये बादल'' ''जानवर और जानवर'' आदि का नाम लिया जा सकता है। लेकिन नयी कहानी आंदोलन के लगभग 12 वर्ष पूर्व ही सन् 1938 में ''हंस'' में प्रकाशित भुवनेश्वर की कहानी ''भेड़िये'' ने राजेन्द्र यादव सहित लगभग सभी यथार्थवादी कहानीकारों को प्रभावित किया। इसी काल खंड में यथार्थवाद की अवधारणा स्थापित एवं प्रसारित की जाने लगी। लेकिन फणीश्वरनाथ रेणु ने अपनी कहानियों में आंचलिकता तथा ग्राम्य परिवेश को यथार्थवाद से बचा कर रखा तथा उसे अपनी कहानियों में मौलिक स्वरूप में प्रस्तुत किया। उनकी पहली कहानी ''बट बाबा'' है तथा अंतिम कहानी ''अग्निखोर'' है। उन्होंने कुल 63 कहानियाँ लिखी, जिसमें से ''तीसरी कसम'', ''पंचलाइट'', ''रसप्रिया'' आदि कहानियाँ अधिक चर्चित हुई। दूसरी ओर प्रगतिशील विचारधारा के प्रमुख कथाकार ज्ञानरंजन ने ''पिता'', ''बहिर्गमन'' ''फेंस के इस पार उस पार'' सहित लगभग कुल 25 कहानियाँ लिखी, उसके बाद ''पहल'' पत्रिका के प्रकाशन से ही साहित्य जगत में वे अपनी उपस्थिति दर्ज करते रहे। दूधनाथ सिंह और काशीनाथ सिंह ने इस दौर में रचनात्मक कहानियाँ लिखी जबकि निर्मल की कहानियाँ स्वयं अपने आप से बात करती है तथा उसके पात्र विचित्र सन्देश दे जाते हैं। अज्ञेय की ''हीलबोंन की बतख'' तथा अश्क की ''पलंग'' कहानी मनोविश्लेषणात्मक स्वरूप में प्रस्तुत होती है। संजीव एवं स्वयं प्रकाश ने भी अपनी कहानियों से अपनी महत्वपूर्ण उपस्थिति साहित्य जगत में दर्ज की।

इस बीच कहानी आंदोलनों एवं प्रयोगों की चपेट में आ गई। 'नयी कहानी' के बाद 'समान्तर कहानी', 'सक्रिय कहानी', 'जनवादी कहानी', 'प्रगतिशील कहानी' आदि आंदोलनों के साथ ही 'अकहानी' का भी प्रयोग किया गया। इसके साथ ही साहित्य में कहानी के क्षेत्र में विशेष विचारधारा, यथार्थवाद एवं विमर्शों के परचम लहराए जाने लगे, साथ ही कहानियाँ ही नहीं कहानीकार भी अलग-अलग खेमों में बंटते चले गये। रोज नये-नये विमर्शों के स्वर साहित्य जगत में उभरने लगे। 'दलित विमर्श', 'स्त्री विमर्श', 'अल्पसंख्यक विमर्श' के साथ ही 'किन्नर विमर्श' भी वर्तमान साहित्य जगत में प्रभावी हो गया। जबकि 'पुरुष विमर्श' की भी कुलबुलाहट के स्वर सुनाई पड़ने लगे। दूसरी ओर भारतीय साहित्य पर सप्रयास 'अति यथार्थवाद' की विचारधारा भी लादी जाने लगी। दरअसल 'अतियथार्थवाद' फ्रांस में जन्मा एक साहित्यिक

आंदोलन था। सन् 1917 में फ्रांसिसी लेखक आलोचक गिलौम अपोलिनेयर ने सर्वप्रथम उसका उपयोग किया था। अतियथार्थवादियों ने यथार्थ का स्वरूप भौतिक एवं मानव प्रकृति में नहीं बल्कि उसके विपरीत जीवन की विकृतियों में खोजा। अनीश्वरवाद के समर्थक तथा जो कुछ परंपरा में है जो कुछ प्राचीन है और जो कुछ रूढ़ियों और व्यवस्था में बंधा हुआ है उसको समूल नष्ट कर देना अपना उद्देश्य माना। इसके तहत स्थापित नैतिकता और सामाजिक मानकों का खंडन किया जाता है। भारतीय साहित्य में इस अतियथार्थवादी विचारधारा के समर्थक लेखक ने नैतिकता तथा विशेष तौर पर अपमानजनक ढंग से हिन्दू धर्म का विरोध करने में जहाँ कमर कस ली वहीं यौन स्वच्छंदता, अश्लीलता तथा अप्राकृतिक यौन संबंधों के समर्थन के पुरजोर स्वर साहित्य जगत में उभरे, जिनसे कहानियाँ भी प्रभावित हुई। इस दिशा में प्रगतिशील साहित्यिक पत्रिका 'हंस' तथा उसके तत्कालीन संपादक राजेंद्र यादव ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। उन्होंने एवं उनकी पत्रिका 'हंस' ने 'स्त्री यौन स्वातंत्र्य' एवं 'देह विमर्श' के नाम पर 'विवाहेत्तर यौन संबंध', 'स्वच्छंद यौन संबंध', 'लिव इन रिलेशन' आदि के समर्थन के नारे बुलंद करने प्रारंभ कर दिए जिससे 'विवाह' का अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया। इन सबका ऐसा प्रतिबिंबन वर्तमान साहित्य की प्रगतिशील कहानियों में होने लगा कि पाठक हतप्रभ रह गया। कई पुरुषों से देह संबंध बनाने की वकालत जहाँ कतिपय प्रगतिशील महिला कहानीकार करने लगी, वहीं सिर्फ चर्चित होने के लिए अवैध देहसंबंधो की कथा कहती हुई उन्होंने माँ और पुत्र के यौन संबंधों की भी कहानी लिख डाली तथा पत्रिका में ही प्रकाशित नहीं की बल्कि उस देह की गणित की कहानी को सोसल मीडिया में पोस्ट कर शान से चर्चित होने लगी। दूसरी ओर कई प्रगतिशील महिला कहानीकार यथार्थवाद का नारा बुलंद करते हुए स्त्रीत्व को अपमानित करने वाली अश्लील गालियों को भी धड़ल्ले से अपनी कहानियों में लिखने लग गई, जिससे साहित्यिक अभिरुचि के शिष्ट शालीन पाठकों ने ऐसी कहानियाँ ही नहीं जिन पत्रिकाओं में ऐसी कहानियाँ प्रकाशित हो रही थी, उनको पढ़ने से भी तौबा कर ली।

वर्तमान कहानीकारों का एक वर्ग पाश्चात्य कहानियों के शिल्प एवं कथानक से प्रभावित होकर उनका अनुकरण करने लग गया। विशेष तौर पर काफ्का की 'मेटामारफोसिस' एवं चेखव की 'डेथ आफ ए गवर्नमेंट क्लर्क' कहानी का कई भारतवासी कहानीकारों ने अनुकरण कर भारतीय परिवेश की कहानियाँ लिखी, जबकि मार्केज के 'जादूई यथार्थ' के शिल्प का अनुकरण करते हुए प्रतिष्ठित कहानीकार उदय प्रकाश ने विवादित एवं चर्चित लंबी कहानी 'वारेन हेस्टिंग्स का सांड' तथा 'मोहनदास' कहानी लिखी। उन कहानियों पर टिप्पणी करते हुए प्रतिष्ठित समालोचक विजयमोहन सिंह ने कहा- ''काफ्का के बाद मार्केज ने इस फैंटेसी को जादूई यथार्थ में बदल दिया और कहानीकारों को नया नुख्सा मिल गया.....। वह ''वारेन हेस्टिंग्स के सांड'' पर बैठ कर इतिहास का अतिक्रमण करता हुआ, विश्व भ्रमण करता रहा और उसने मुक्तिबोध को'' मोहनदास'' के पास ला कर बैठा दिया।'' (नया ज्ञानोदय, अगस्त 200, पृष्ठ 120)

जबकि दलित साहित्यकारों की रचनाओं में जातिगत विषमता का दर्द स्वानुभूति के स्वरों में मुखरित हुआ तथा दलित आत्मकथाओं ने वर्तमान साहित्य में अपनी महत्वपूर्ण उपस्थिति दर्ज की, जिनमें अक्कारमाशी (शरण कुमार लिंबाले), अपने अपने पिंजरे (मोहनदास नैमीशराय) तथा जूंठन (ओमप्रकाश वाल्मीकि) का नाम लिया जा सकता है। लेकिन शोषण से आक्रोशित हो कर वर्तमान में दलित विमर्शवादी कहानीकारों ने स्वर्ण वर्ग से प्रतिशोध के स्वर अपनी कहानियों में मुखरित करते हुए ऐसी कहानियाँ लिखी, जिनमें दलित पुरुषों द्वारा उच्च सवर्ण वर्ग की स्त्रियों से यौन संबंध बनाने के दृश्य चित्रित किए गए। इस संदर्भ में सूरजपाल चौहान की कहानी ''तिरस्कृत'' तथा उदय प्रताप की कहानी ''पीली छतरी वाली लड़की'' का जिक्र किया जा सकता है। जबकि इसके विपरीत वर्तमान में सशक्त दलितों द्वारा कमजोर सवर्ण

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद वर्तमान भारत के ग्रामों के हालात सुधरे हैं। अब देश के ग्राम प्रेमचंद के युग के ग्राम नहीं रह गए है लेकिन अभी भी अरूण प्रकाश की कहानी 'भैया एक्सप्रेस' के विसुनदेव को अपनी बदहाली एवं कर्ज में डूबी स्थितियों से उबरने के लिए बिहार में पंजाब जाना पड़ता है। अमर गोस्वामी की कहानी 'कल का भरोसा' के निखलिश को उत्तरप्रदेश के अपने ग्राम से महाजन से शोषित एवं पुलिस से प्रताड़ित हो कर पलायन करते हुए महानगर जाना पड़ता है। जहाँ जाते हुए उसे ट्रेन में बैठने के लिए 'चड्डी भर जगह' तथा महानगर में रहने के लिए 'झुग्गी भर जगह' मिल ही जाती है। अरूण प्रकाश की कहानी के 'बिसुनदेव' एवं अमर गोस्वामी की कहानी के 'निखलिश' के चेहरे क्या प्रेमचंद के उपन्यास 'गोदान' के युवा पात्र 'गोबर' के चेहरे से मिलते जुलते प्रतीत नहीं होते? लेकिन इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि वर्तमान युग के ग्रामों के परिवेश में जहाँ परिवर्तन आया है।

वर्ग के व्यक्तियों के शोषण उत्पीड़न की घटनाएँ भी आए दिन सुनाई पड़ रही है, जिसका चित्रण प्रसिद्ध कहानीकार हृदयेश ने अपनी कहानी ''मनु'' में किया है।

वर्तमान साहित्य में वाद, विमर्श, विशेष विचारधारा आदि से बिना प्रभावित हुए सहज स्वाभाविक रूप से भी प्रभावशाली कहानियाँ समाज के हर क्षेत्र पर लिखी जा रही है तथा पाठकों को उनसे प्रभावित होकर उन्हें सराहते हुए भी देखा जा रहा है। वर्तमान प्रगतिशील कहानीकारों ने स्त्री विमर्श के नाम पर स्त्री यौन स्वातंत्र्य तथा देह विमर्श का जिस भाँति वर्तमान साहित्य में परचम लहाराया है, उससे उनके 'स्त्री विमर्श' से अलग 'स्त्री हित चिंतन वाली कहानियों' को विश्लेषित करने की आवश्यकता महसूस होने लग गई हैं, जो उनके जीवन की मूलभूत

समस्याओं, भावनाओं, आत्मनिर्भरता, पुरुष वर्ग से समानता के अधिकार तथा सुरक्षा आदि पर विचार करती हो। इस संबंध में ध्यान वर्तमान साहित्य में लिखी गई इस तरह की कहानियों की महिला कहानीकार मालती जोशी के तरफ जाता है, उन्होंने अपनी लगभग सारी कहानियाँ मध्यम वर्गीय महिलाओं के घरेलू जीवन तथा उनकी मनोव्यथाओं पर लिखी है। उनके चर्चित कहानी संग्रह ''वो तेरा घर ये मेरा घर'', ''मोरी रंग दे चुनरिया'' आदि है तथा प्रमुख कहानियों में ''मन न भाय दस बीस'', ''वितृष्णा'', ''वसीयत'' आदि का नाम लिया जा सकता है। मालती जोशी की ही भांति वर्तमान की बहुत सारी महिला कहानीकारों ने महिलाओं के हित चिंतन करते हुए कहानियाँ लिखी है, जिनमें से चित्रा मुद्गल की ''प्रेतयोनि'', ''अपनी वापसी'', ''दुल्हिन'', डॉ. सूर्यबाला की ''आखरी विदा'', ''रमन की चाची'', ''गीता चौधरी का आखरी सवाल'' तथा स्त्री मनोविज्ञान को रेखांकित करती सुषमा मुनीन्द्र की कहानी ''विजेता'' का नाम लिया जा सकता है। सिर्फ हिन्दू महिलाओं के जीवन का ही लेखा-जेखा वर्तमान कहानियाँ नहीं बांचती बल्कि प्रतिष्ठित कहानीकार नासिरा शर्मा के कहानी संग्रह ''खुदा की वापसी'' की कहानियाँ मुस्लिम महिलाओं के जीवन को रेखांकित करती है तथा उनके मजहब के रिवाजों, कुरीतियों से संघर्ष करते हुए उनके अधिकारों को उन्हें दिलाने हेतु प्रयास करती है। जबकि भीष्म सहानी की ''चीफ की दावत'' तथा महावीर राजी की ''तुम्हारे हिस्से में'' कहानियाँ परिवार में वृद्ध महिलाओं के उपेक्षित जीवन को रेखांकित करती है तथा पारितोष चक्रवर्ती की कहानी ''सोनपती'' वृद्ध महिला की अपने ही हम उम्र वृद्ध से भावनात्मक मैत्री संबंधों की कथा सुनाती है।

सिर्फ वृद्ध महिलाओं ही नहीं बल्कि वृद्ध पुरुष भी अपने परिवार के सदस्यों द्वारा उपेक्षित तथा निर्वासित किए जाते हैं। इस कड़वी हकीकत से रू-ब-रू कराती है- उर्मिला शिरीष की कहानी ''निर्वासन'' तथा घर से निष्कासित माता-पिता को वृद्धाश्रम भेजने की व्यथा कथा सुनाती है। सुधा गोयल की कहानी ''मैं आ रहा हूँ नयनतारा''। हिस्साबांट कराने के लिए पुत्र अपने पिता को प्रताड़ित करते हुए उसे मिर्ची और लोबान का धुंआ देते हैं, शोभनाथ शुक्ल की कहानी ''हांडी भरी यातना'' में संवेदनशून्यता की हद पार करती है। पुत्रों द्वारा माता-पिता की उपेक्षित करने के बाद भी उनका पिता अपने छोटे पुत्र के हार्ट अटैक की खबर पा कर पत्नी को लकवा की हालत में नर्स के भरोसे छोड़ कर, शीत लहर की परवाह न करते हुए उसको देखने जाता है। पिता की इन भावनाओं एवं पुत्र के प्रति पिता के कर्तव्यबोध की कहानी सुनाती है रूपसिंह चंदेल की कहानी ''पिता''। जबकि काफी पहले ही पिता पुत्र के भावनात्मक संबंधों की चर्चित कहानी ''डिप्टी कलेक्ट्री'' प्रतिष्ठित कहानीकार अमरकांत लिख चुके थे, साथ ही मध्यमवर्गीय गरीब परिवार के दोपहर के भोजन में परिवार के हर सदस्य द्वारा भरपेट भोजन न कर परिवार के अन्य सदस्यों के लिए भोजन बचाने की मार्मिक स्थिति का दृश्य चित्रण उनकी अन्य चर्चित कहानी ''दोपहर का भोजन'' में दिखलाई पड़ता है। एक अलग ही तरह की प्रेम

कहानी शेखर जोशी की कहानी ''कोशी के घटवार'' सुनाती है तो उनकी ''बदबू'' एवं ''दाज्यू'' कहानियाँ अलग-अलग संदर्भों में प्रभावित करती है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद वर्तमान भारत के ग्रामों के हालात सुधरे हैं। अब देश के ग्राम प्रेमचंद के युग के ग्राम नहीं रह गए हैं लेकिन अभी भी अरूण प्रकाश की कहानी ''भैया एक्सप्रेस'' के विसुनदेव को अपनी बदहाली एवं कर्ज में डूबी स्थितियों से उबरने के लिए बिहार में पंजाब जाना पड़ता है। अमर गोस्वामी की कहानी 'कल का भरोसा' के निखलिश को उत्तरप्रदेश के अपने ग्राम से महाजन से शोषित एवं पुलिस से प्रताड़ित हो कर पलायन करते हुए महानगर जाना पड़ता है। जहाँ जाते हुए उसे ट्रेन में बैठने के लिए 'चड्डी भर जगह' तथा महानगर में रहने के लिए 'झुग्गी भर जगह' मिल ही जाती है। अरूण प्रकाश की कहानी के 'बिसुनदेव' एवं अमर गोस्वामी की कहानी के 'निखलिश' के चेहरे क्या प्रेमचंद के उपन्यास 'गोदान' के युवा पात्र 'गोबर' के चेहरे से मिलते-जुलते प्रतीत नहीं होते? लेकिन इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि वर्तमान युग के ग्रामों के परिवेश में जहाँ परिवर्तन आया है, वहीं ग्रामवासियों की संस्कृति एवं सोच में भी बदलाव आया है जिसकी झलक ऊषा किरण खान की कहानी 'दूब धान', काशीनाथ सिंह की कहानी 'एक लुप्त होती नस्ल', मिथलेश्वर की कहानी 'रैन भई चहुं देश', नीरजा माधव की कहानी 'ताकि' आदि में देखी जा सकती है।

सिर्फ ग्रामीण क्षेत्र ही नहीं स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की अवधि में नगर महानगरों के जीवन पर भी प्रचुर मात्रा में कहानियाँ लिखी गई है। जिनमें से रविन्द्र कालिया की कहानी 'सिर्फ एक दिन' 'बड़े शहर का आदमी', 'सड़क पर अंधेरा था' एवं कमलेश बख्सी के कहानी संग्रह 'महानगर की श्रेष्ठ कहानियों' में संग्रहित कहानियों का जिक्र किया जा सकता है। जबकि हरिचरण प्रकाश की वर्तमान साहित्य में प्रकाशित कहानी 'स्वयंवरा माइरा मालिनी' में जहाँ महानगरों के अभिजात्य वर्ग के विवाह समारोह का एक दृश्य प्रस्तुत होता है, वहीं महानगर की नवयुवतियों की विवाह के प्रति बदलती विचारधारा भी प्रस्तुत होती है।

हिन्दी कहानी के प्रारंभ से लेकर अब तक के सफर पर चर्चा करते हुए हिन्दी कहानी के इतिहास में भारतीय मूल के प्रवासी कहानीकारों के योगदान को अनदेखा नहीं किया जा सकता। भारत से जा कर विदेश में बस जाने के बावजूद भी हिन्दी भाषा में उनका कहानी लेखन उनके भारतीय संस्कृति एवं हिन्दी भाषा के प्रति अनुरोग का परिचायक है। भारतीय प्रवासी हिन्दी कहानीकारों की सूची लंबी है। वे विदेश में अमेरिका, ब्रिटेन, पोलैंड, कैनेडा, डेनमार्क फ्रांस, नार्वे, मॉरीशस, सूरीनाम आदि देशों में रहते हुए भी हिन्दी भाषा में कहानी लेखन तथा साहित्य की अन्य विधाओं में साहित्य सृजन कर रहे हैं।

भारतीय प्रवासी कहानीकारों पर चर्चा करते हुए सबसे पहले हमारा ध्यान मॉरीशस में रह रहे भारतीय मूल के साहित्यकार अभिमन्यु अनंत की ओर जाता है। उनके पूर्वज अन्य भारतीयों के साथ अंग्रेजों द्वारा मॉरीशस में गन्ने की खेती के लिए बतौर मजदूर लाए गए थे।

मॉरीशस में जन्म के बावजूद अनंत ताउम्र हिन्दी साहित्य के प्रति समर्पित रहे। उन्होंने हिन्दी भाषा की विभिन्न विधाओं में 59 पुस्तकें लिखी, जिनमें से 5 पुस्तकें कहानी संग्रह की थी। मॉरीशस में अभिमन्यु अनंत का रचनाकाल ''अभिमन्यु अनंत युग'' के रूप में जाना जाता है। उनकी रचनाएँ भारत की कई प्रतिष्ठित साहित्यिक पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई तथा उन पर केंद्रित कुछ पत्रिकाओं के विशेषांक भी प्रकाशित हुए।

अभिमन्यु अनंत के बाद प्रवासी हिन्दी कहानीकारों में सबसे अधिक चर्चित नाम तेजेन्द्र शर्मा का है। वे हिन्दी साहित्य के एकमात्र अंतरराष्ट्रीय सम्मान ''इंदु शर्मा अंतरराष्ट्रीय कथा सम्मान'' प्रदान करने वाली संस्था ''कथा यू.के.'' के सचिव तथा अंतरराष्ट्रीय हिंदी पत्रिका ''पुरवाई'' के संपादक है। वैश्विक स्तर पर वे हिन्दी के एकमात्र ऐसे साहित्यकार हैं, जिन्हें हिंदी साहित्य सेवा के लिए ब्रिटेन की महारानी एलिजाबेथ ने वर्ष 2017 में मेंबर ऑफ दि ब्रिटिश एम्पायर की उपाधि से लंदन के बर्किघम पैलेस में अलंकृत किया था। उसके अतिरिक्त अंतरराष्ट्रीय स्पंदन कथा सम्मान, प्रवासी भारतीय भूषण सम्मान तथा डॉ. हरिवंश राय बच्चन सम्मान आदि से भी वे सम्मानित हो चुके हैं। उनके 6 कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। अन्य प्रवासी हिन्दी कहानीकारों में से कुछ प्रवासी कहानीकारों एवं उनकी कहानियों का उल्लेख करते हुए सुषमा वेदी (''चिड़िया और चील'' चर्चित कहानी संग्रह), अरूण अस्थाना (तर्पण), हरचरण चावला (ढाई आखर), उषा राजे सक्सेना (प्रवास मे), कृष्ण बिहारी (दुश्मन से दोस्ती) शैल अग्रवाल (सूखे पत्ते), सुरेश चंद्र शुक्ल (दुनिया छोटी), सुधा ओम ढींगरा (सूरज क्यों निकलता है), डॉ. सुदर्शन प्रियदर्शिनी (अवैध नगरी) आदि का नाम लिया जा सकता है।

प्रवासी भारतीय कहानीकारों की कहानियों में दो संस्कृतियों की सिर्फ झलक भर नहीं मिलती है अपितु दो संस्कृतियों के बीच मुठभेड़ भी दृष्टिगोचर होती है। जबकि विदेश में भी विमर्शवादी लेखन किया जा रहा है लेकिन उनके स्वरूप में परिवर्तन है तथा बिखरते परिवार टूटते वैवाहिक संबंधो की समस्या विदेशों में अधिक ही प्रभावी है। इस संदर्भ में म.प्र. राष्ट्र भाषा परिषद की पत्रिका ''अक्षरा'' के ''प्रवासी कलम'' स्तंभ के तहत् मई-जनू 2012 के अंक में प्रकाशित रीनू पुरोहित की कहानी ''ल्यूमिनिता (नन्हीं रोशनी)'' में दो संस्कृतियों के बीच जहाँ मुठभेड़ दृष्टिगोचर होती है, वहीं भावनाओं की मार्मिकता की भी झलक मिलती है। हाईकोर्ट जज ओंकारनाथ त्रिपाठी विदेश में कार्यरत अपने पुत्र मानव के अपने द्वारा भारतीय परिवार में निश्चित किए गए रिश्ते को ठुकरा कर उसके विदेशी लड़की से विवाह कर लेने से जहाँ नाराज है और कई वर्षो तक उससे बात भी नहीं करते, वहीं उसके जीवनोपरांत उसकी पुत्री को अपना लेते है। जनवरी 2023 के अंक में दिव्या माथुर की कहानी ''ई प्रेम पत्र'' में विदेश में बिखरते परिवार टूटते वैवाहिक संबंधों की बात जहाँ दर्ज है, वहीं टूटने के करीब पहुँचे वैवाहिक संबंधों को उनकी पुत्री अपनी सहेली के साथ मिल कर ई पत्रों के माध्यम से फिर से मधुर संबंधों में बदल देती है तथा उसी अंक में तेजेन्द्र शर्मा की कहानी ''गंध'' में दलित विमर्श का एक नया ही विदेशी स्वरूप उभर कर सामने आता है जबकि उनकी एक अन्य कहानी ''कोख का किराया'' में सरोगेट मदर

बनने का जो पहलू प्रस्तुत हुआ है वह मनोविश्लेषणात्मक पहलू है जबकि भारत में सरोगेट मदर बनने के पीछे सिर्फ आर्थिक कारण ही अधिक दृष्टिगोचर होता है। हिन्दी साहित्य का यह सुखद पहलू है कि विदेशों में भी भारतीय प्रवासी साहित्यकारों द्वारा कई साहित्यिक पत्रिका में हिन्दी भाषा में प्रकाशित की जा रही है, उनमें पुरवाई के अतिरिक्त, हिन्दी गौरव (लंदन यूके), हिन्दी दर्पण (सिंगापुर), हिन्दी साहित्य समीक्षा (न्यूयार्क, यूएसए) तथा विश्व हिन्दी साहित्य (लंदन, यूके) का नाम लिया जा सकता है। भारत के साहित्य जगत में प्रवासी भारतीय कहानीकारों की कहानियों पर अलग से समीक्षात्मक विश्लेषण किया जाना नितांत जरूरी है।

वर्तमान साहित्य के कहानी लेखन में विविधता है तथा लगभग सभी क्षेत्रों का प्रतिबिंबन इस युग के कहानीकारों की कहानियों में हुआ है लेकिन वर्तमान साहित्य की कहानियों में आश्चर्यजनक वृतांत की कहानियों का अभाव खलता रहा है। इस अभाव की पूर्ति करने का प्रयास प्रतिष्ठित साहित्यिक पत्रिका 'कथादेश' ने सन् 2014-15 एवं 2015-16 में जापान की 'सर्नुनोस' संस्था के साथ मिलकर 'रहस्य कल्पना कथा प्रतियोगिता' आयोजित कर किया जिसमें प्रतिभू बनर्जी की कहानी 'सफर इशारों का' एवं नंदिता जेना की कहानी 'बिसात पर सजी मोहरें' पुरस्कृत हुई थी। जबकि वृंदावन लाल वर्मा के बाद ऐतिहासिक कहानियों के लेखन का अभाव वर्तमान कहानियों में खलता है।

चलते-चलते इतना ही कहूँगा कि वर्तमान कहानियों की पठनीयता एवं लोकप्रियता की अभिवृद्धि के लिए जरूरी है कि उसे विशेष विचारधारा, वाद एवं विमर्शो के बंधनों से मुक्त किया जाये। वैसे भी बिना विमर्शो के भी समाज के हर वर्गो के उत्थान हेतु सदा के कहानीकार जागरूक रहे तथा हर वर्गो के शोषण, उत्पीड़न के खिलाफ उन्होंने पूरी संवेदनशीलता के साथ अपनी कहानियों में विरोध के स्वर मुखर किए हैं। जब दलित शब्द जन्मा भी न था तब सन् 1927 में प्रतिष्ठित साहित्यक पत्रिका 'चांद' का 'अछूत विशेषांक' प्रकाशित हुआ था, जिसमें पूरी संवेदनशीलता के साथ अछूतों की समस्याओं को रेखाकिंत किया गया था। इस संबंध में इसे बतौर उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है तथा ग्रामीण जगत, साम्प्रदायिक सद्भाव, एवं स्त्री हित हेतु सदा से कहानियाँ लिखी जा रही है। जबकि विमर्शप्रियता एवं वादमुग्धता में सप्रयास कहानी लेखन में ना विचारों की मौलिकता रहती है और ना ही सच्ची संवेदनशीलता तथा एक ही तरह के कथानक के बारंबार पुनरावृत्ति से कहानियों पाठकों हेतु उबाऊ हो जाती है, जिसका असर वर्तमान में कहानी के पाठकों के अभाव के रूप में स्पष्टतः दृष्टिगोचर हो रहा है।

राजेन्द्र सिंह गहलौत, ''सुभद्रा कुटी'', बस स्टैंड के सामने, जिला : शहडोल (म.प्र.), बुढार 484110
मो. : 9329562110

✧ ✧ ✧

''अमृत राय के कथा-साहित्य में जीवन-दर्शन''

डॉ. अनुराधा शुक्ला

जीवन की इस गाँधीवादी सरलता, सादगी एवं उदारता की छाप अमृतराय के साहित्य के मूल में सर्वत्र ही मिलती है। प्रेमचंद सदैव ही जनता का हित चाहते थे। उनका दुःख दारिद्रय दूर हो, वे सुशिक्षित हों, खुश रहें, यही उनकी हार्दिक कामना थी। वे ये मानते थे कि साहित्य को उसका अस्त्र बनना चाहिए। दूसरे शब्दों में वे साहित्य को सोद्देश्य मानते थे। उनकी इस भावना ने अमृतराय को भी सोद्देश्य साहित्य रचना की प्रेरणा दी। इस सन्दर्भ में अमृतराय का कथन है कि, "उनका साहित्य भी सोद्देश्य है और मैं अपने साहित्य को सोद्देश्य मानता हूँ।" यदि अमृतराय के सम्पूर्ण साहित्य पर दृष्टि डालें तो सोद्देश्यता की कसौटी पर वह पूर्णतः खरा उतरेगा। समाज की कुरीतियों को देखकर उनके मन में उसे दूर करने की चेतना जाग्रत होती है। फिर वे कहीं देखकर उनके सीधे-सीधे जैसे 'बीज' में और कहीं व्यंग्य से जैसे जंगल और हाथी के दाँत में इस उद्देश्य की पूर्ति करने का प्रयास करते हैं। प्रेमचंद के समान अमृतराय भी कला के सिद्धान्त में विश्वास नहीं करते।

पिता प्रेमचन्द तथा माता शिवरानी देवी की कोख से 15 अगस्त, 1921 ई. को एक ऐसे बालक ने जन्म लिया, जिसका व्यक्तित्व निराला था। माता-पिता द्वारा रखा गया नाम 'अमृत' उस बालक के व्यक्तित्व का परिचायक बन गया। उनकी वाणी से अमृत टपकता था। गिरिजा कुमार माथुर ने इनके व्यक्तित्व का सही निरूपण किया है - 'अमृतराय एक तलदर्शी निर्मल जल-सा, खुले व्यक्तित्व का आलोक-विस्तार है। गोरा चिट्टा, अकलंक, छरहरा साफ आइने-सा शरीर वैसी ही मुक्त ठहाकेदार, हवाओं तक को गुंजाती हँसी, वैसा ही निर्व्याज व्यवहार, एक पारदर्शी मन, मर्मशील, आत्मदान भरा आश्वस्ति भाव, वक्त पर तेज-तर्रार प्रतिक्रियाओं का मिजाज भी, अन्तर का भरा ठहराव भी। भारत की प्राचीनतम नगरी ये प्रयागराज गंगा-जमुना जैसी विशाल पावन नदियों का संगम जैसी संस्कृति की अनेक धाराएँ यहाँ आकर मिल गई है। उसी तरह की सांस्कृतिक परम्परा और आधुनिकता, सामाजिकता और वैयक्तिकता, हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी का मिलन बिन्दु है। - अमृतराय का व्यक्तित्व।' उनका प्रारम्भिक जीवन काफी संघर्षपूर्ण रहा। 15 वर्ष की आयु में ही पिता की छत्र-छाया उठ गई। समस्याओं से वीरतापूर्वक जूझते हुए, उन्होंने सन् 1942 ई. में अंग्रेजी विषय से एम.ए. किया। इसी समय वे बनारस जाकर कम्युनिस्ट पार्टी के

सदस्य बने। सन् 1943 ई. में प्रगतिशील लेखक संघ के संगठन में अपनी भागेदारी निभाकर प्रगतिशीलता में अपनी आस्था व्यक्त की। 29 अप्रैल, सन् 1945 ई. को विजातीय सुधा चौहान से विवाह एक प्रगतिशील और साहसी कदम था। राजनीति में हिस्सा लेने के कारण भारतीय सुरक्षा कानून के अन्तर्गत जेल-यात्रा भी की। एक किशोर पुत्र के निधन का दारुण शोक भी उन्हें सहना और झेलना पड़ा, परन्तु उन्होंने अपने जीवन-कर्म में शिथिलता न आने दी। अमृतराय ने जीवनयापन के लिए कोई नौकरी नहीं की। अपनी इच्छानुसार लेखन कार्य संपादन एवं प्रकाशन को जीविका का आधार बनाया। उन्होंने अनेक कालजयी कृतियों का सृजन किया, जिनके लिए उन्हें अनेक पुरस्कारों से सम्मानित किया गया। भारत के लेखक प्रतिनिधि के रूप में उन्होंने अनेक बार विदेश यात्राएँ कीं। उन्हें जीवनपर्यन्त इस बात का दुःख रहा कि उन्हें लोग प्रेमचन्द के पुत्र के रूप में जानते हैं, एक महान् पिता के एक महान लेखक-पुत्र के रूप में नहीं। 14 अगस्त, सन् 1996 ई. को वह इहलोक छोड़कर परलोक सिधार गए।

हिन्दी साहित्य की कोई भी ऐसी विधा नहीं थी, जिस पर उन्होंने न लिखा हो। क्या उपन्यास, क्या कहानी, क्या नाटक, क्या निबन्ध, क्या यात्रा-वृतान्त, क्या संस्मरण, क्या समीक्षा, क्या जीवनी, क्या रिपोर्ताज, क्या रेखाचित्र कोई भी उनकी लेखनी के संस्पर्श से न बच सका। इतना ही नहीं, उन्होंने अनेक ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद किया। हंस और 'नई कहानियाँ' नामक पत्रिकाओं के संपादन में वे किसी से पीछे नहीं रहे। तीन-चार कविताएँ भी लिखीं। 'हिन्दी -उर्दू समस्या' पर शोध कार्य भी किया। उन्होंने नये लेखकों को प्रोत्साहित तथा पुरस्कृत भी किया। अनेक लेखक एवं आलोचकों ने उन्हें एक विशेष विधा की परिधि में सीमित करने का प्रयास किया है, जो अनुचित है। सभी विधाओं पर उनकी पकड़ अच्छी रही है। साहित्य के क्षेत्र में उनका योगदान अप्रतिम है। उन्होंने समाज को निकट से देखा, समझा, जाँचा और परखा है। उनकी रचनाओं में उनकी रचनाधर्मिता स्पष्ट झलकती है। बड़े दुःख का विषय है कि उन्हें हिन्दी साहित्य के इतिहास में वह स्थान न मिल सका, जिसके वे अधिकारी थे।

साहित्यकार समाज में जन्म लेता है। उसी में वह पलता एवं बढ़ता है। अतः समाज एवं तत्कालीन परिवेश का उस पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। उसका साहित्य भी समाज सापेक्ष होता है। अमृतराय साहित्यिक दायित्व के सन्दर्भ में परिवेश की व्याख्या इस प्रकार करते हैं- 'हम परिवेश को ऐतिहासिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक स्थितियों और गतिविधियों से निर्मित और पुष्ट एक प्रकार का सम्पूर्ण वातावरण कह सकते हैं, जिसके अन्तर्गत कोई भी व्यक्ति या समाज किसी समय अपने को है।' पाता है। परिवेश के प्रभाव की महत्ता के विषय में उनका कहना है कि, 'परिवेश से पूर्ण मुक्ति कैवल्य या निर्वाण की स्थिति में ही संभव है।'

अमृतराय के उपन्यास अपने समय और अपने समाज का प्रामाणिक चित्र उपस्थित करते हैं। 'बीज' से लेकर 'धुआँ तक की उनकी उपन्यास दृष्टि सामाजिक यथार्थ को दृष्टिपथ में रखकर उसमें चलने वाली सम-सामयिक चेतना को अनेक कोणों से और अनेक पहलुओं से

उभारती और प्रस्तुत करती है। आलोचकों ने उनके उपन्यासों पर राजनीतिक अपवाद का आरोप लगाया है, जो अनुचित है। 'बीज' और 'हाथी के दाँत' में राजनीति ज्यादा है। 'धुआँ' में तो राजनीति का संस्पर्श है, जबकि 'नागफनी का देश', 'जंगल', 'भटियाली', 'सुख-दुख' में राजनीति तो बिलकुल नहीं है। 'सुख-दुख', 'भटियाली' और 'जंगल' उपन्यासों के सन्दर्भ में मधुरेश जी का कथन है 'इन उपन्यासों में ऐसा कुछ नहीं है, जिसे गहरी मार्क्सवादी समझ के अनुशासन का परिणाम कहा जा सके।'

बीज शब्द :

भटियाली, नागफनी, वैकल्य, दृष्टिपथ, छलहरा, बीज, अपवाद, आश्वस्ति ।

शोध विस्तार :

अमृतराय ने एक शिक्षित एवं साहित्यिक परिवार में जन्म लिया। साहित्यिक परिवेश में ही बचपन और किशोरावस्था के अमूल्य वर्ष बिताए। स्वभावतः इनका उनके लेखकीय स्वरूप के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। वस्तुतः प्रारम्भ से घर में माता-पिता को पढ़ते-लिखते पाया, साहित्यिक गोष्ठियाँ देखी। इन सबने सम्मिलित रूप से उनमें साहित्य प्रेम जाग्रत किया, साहित्य के अध्ययन की रुचि उत्पन्न की और आगे चलकर लिखने की प्रेरणा दी। प्रेमचंद को सादगी अत्यधिक पसन्द थी। जहाँ तक सम्भव हो अपना कार्य स्वयं करते थे। उनके साहित्य में भी उनकी इस सादगी की स्पष्ट झलक है। साधारण जीवन और उच्च विचारों वाले पिता के सिद्धान्त को अमृतराय ने अपने जीवन में पूर्णतया अपना लिया था। एक स्थान पर उन्होंने स्वयं कहा है- 'मेरी लाइफ स्टाइल पर एक सादगी और एक गाँधीवादी असर था। मेयो होस्टल का मेरा समय गाँधीवादी था, कहीं इसके पीछे भी उस आदमी (प्रेमचंद) का व्यक्तित्व होगा।'

जीवन की इस गाँधीवादी सरलता, सादगी एवं उदारता की छाप अमृतराय के साहित्य के मूल में सर्वत्र ही मिलती है। प्रेमचंद सदैव ही जनता का हित चाहते थे। उनका दुःख दारिद्रय दूर हो, वे सुशिक्षित हों, खुश रहें, यही उनकी हार्दिक कामना थी। वे ये मानते थे कि साहित्य को उसका अस्त्र बनना चाहिए। दूसरे शब्दों में वे साहित्य को सोद्देश्य मानते थे। उनकी इस भावना ने अमृतराय को भी सोद्देश्य साहित्य रचना की प्रेरणा दी। इस सन्दर्भ में अमृतराय का कथन है कि, "उनका साहित्य भी सोद्देश्य है और मैं अपने साहित्य को सोद्देश्य मानता हूँ।" यदि अमृतराय के सम्पूर्ण साहित्य पर दृष्टि डालें तो सोद्देश्यता की कसौटी पर वह पूर्णतः खरा उतरेगा। समाज की कुरीतियों को देखकर उनके मन में उसे दूर करने की चेतना जाग्रत होती है। फिर वे कहीं देखकर उनके सीधे-सीधे जैसे 'बीज' में और कहीं व्यंग्य से जैसे जंगल और हाथी के दाँत में इस उद्देश्य की पूर्ति करने का प्रयास करते हैं। प्रेमचंद के समान अमृतराय भी कला के सिद्धान्त में विश्वास नहीं करते।

जहाँ तक विचारधारा का प्रश्न है, प्रेमचंद गाँधीवाद के रास्ते समाजवादी चेतना तक पहुँचे थे, क्योंकि लोक-मंगल की कसौटी पर वे हर चीज को परखते थे। वे एक समाजवादी

लेखक थे। उनका साहित्य मानवतावादी साहित्य है। अमृतराय के मानवतावादी साहित्य के सृजन की प्रेरणा के मूल में प्रेमचंद का यह दर्शन प्रमुख भूमिका निभाता है। यद्यपि साहित्यिक क्षेत्र में अधिक प्रभाव ले सकने की आयु के पूर्व ही उनका देहान्त हो गया था। फिर भी 15-16 वर्ष के किशोर मन पर साहित्यिक पिता की पर्याप्त छाप पड़ चुकी थी। पिता के साथ अमृतराय की माता भी साहित्य सेविका थीं। वे सदैव ही कुछ पढ़ती रहती थीं। उन्होंने कुछ कहानियाँ तथा प्रेमचंद के जीवन पर एक पुस्तक भी लिखी है। अमृतराय के रचनाकार मानस के निर्माण में उनकी माता का भी पर्याप्त हाथ रहा।

शिवरानी देवी एवं प्रेमचंद दोनों ही स्वाधीनता आन्दोलन के सक्रिय कार्यकर्ता थे। लेख, कथा, उपन्यास, नाटक आदि लिखकर हर सम्भव उपाय द्वारा प्रेमचंद ने घर-घर में स्वाधीनता

अमृतराय के कथा साहित्य में राजनीतिक परिवेश का भरपूर प्रभाव हमें दृष्टिगत होता है, 'बीज' में इसमें तत्कालीन राजनीतिक परिवेश का विस्तृत निरूपण हुआ है। इसी समय विदेशी वस्तुओं का बायकाट हुआ। दुकानों पर धरना दिया गया, जिसके कारण नित्य प्रति धर पकड़ होती थी। इसका वर्णन अमृतराय की 'तिरंगे कफन' कहानी में है। इसी प्रकार सन् 1943 के बंगाल के अकाल के भीषण परिणामों का भी इन्होंने अपने साहित्य में पर्याप्त चित्रण किया है। 15 अगस्त, 1947 को भारत स्वतंत्र हुआ। देश किस प्रकार इस स्वतंत्रता का हर्षोल्लास से स्वागत करने में मग्न था, जनता के मन में क्या-क्या आशाएँ थीं, इन सब का चित्रण भी हम उनके 'बीज' उपन्यास एवं कुछ कहानियों में पाते हैं। इस स्वतंत्रता के साथ ही साथ देश का विभाजन हुआ। इसने शरणार्थी समस्या को जन्म दिया, दोनों देशों की स्त्रियों पर अनेक पाशविक अत्याचार किए गए। देश साम्प्रदायिकता की ज्वाला में जल उठा। इन सब का चित्रण 'बीज', 'धुआँ, व्यथा का सरगम' आदि में किया गया है।

की लहर फैलाई। माता शिवरानी देवी तो कपड़े की दुकान पर धरना देती हुई पकड़ी भी गई थीं तथा कुछ महीने कारावास रह कर आई थीं। इस प्रकार अमृतराय को प्रारम्भ से घर में स्वाधीनता आन्दोलन का एक परिवेश मिला। पिता की मित्र मंडली में भी नित्य वही चर्चाएँ सुनने को मिलती रहीं। इन सबका भरपूर प्रभाव हम 'बीज' उपन्यास में देखते हैं। उनके स्वयं के अनुसार स्वाधीनता आन्दोलन के व्यापक परिवेश का उन पर भी अन्य पढ़े-लिखे समझदार लोगों के समान ही प्रभाव पड़ा।

नैतिक मूल्यों की स्थापना में भी अमृतराय ने प्रेमचंद के आदर्शों से प्रभाव ग्रहण किया था। यद्यपि अमृतराय, फायड से भी प्रभावित थे, जिसने यौन नैतिकता को अपेक्षाकृत अधिक

खुला एवं स्वाभाविक रूप दिया है यद्यपि उच्शृंखलता को न प्रेमचंद उचित मानते थे न अमृतराय। इसी कारण प्रेमचंद के समान अमृतराय ने प्रेम के आत्मिक पक्ष की उसके मांसल पक्ष से अधिक चर्चा की हैं। उनके समग्र साहित्य का अध्ययन इस बात की पुष्टि करता है कि अमृतराय ने न केवल प्रेमचंद के चारित्रिक गुणों एवं उच्चादर्शों से अपितु उनकी रचनाओं से भी भरपूर प्रेरणा प्राप्त की है।

पूँजीपति तथा जमींदार अधिकाधिक सम्पन्न होते जा रहे हैं। इसके ठीक विपरीत दूसरी ओर उनके सताए गए कृषक एवं श्रमिक हैं, जिन्हें दो समय की रोटी भी कठिनाई से प्राप्त होती है। इन्हीं का रक्त चूसकर पूँजीपतियों तथा जमींदारों ने अपना काला धन एकत्र किया है। इन सब अत्याचारों से तंग होकर अमृतराय ने अपनी रचनाओं में उनकी दुर्दशा का वर्णन किया एवं उसे दूर करने के उपाय बताने का भी प्रयत्न किया है। वे यह चाहते हैं कि उनके साहित्य से समाज की आँखें खुल सकें, उन्हें यह विदित हो जाए कि जनता पर किस सीमा तक अत्याचार हो रहे हैं। अमृतराय के लगभग पूरे साहित्य को हम शोषण पर आधारित साहित्य कह सकते हैं। उनके स्वयं के अनुसार, ये जो आर्थिक शोषण पर आधारित समाज है। इसके भीतर से और जो शाखाएँ फूटती हैं- यह मेरे साहित्य में काफी आया है। शोषण के साथ ही वर्ग संघर्ष की भावना ने भी इन्हें बहुत अधिक प्रेरणा दी। शोषक वर्ग का शोषित पर अत्याचार देखकर ये क्षुब्ध हो गए थे। उनके कथा साहित्य में यह बौखलाहट एवं तदज्जन्य वर्ग चेतना भी अपरिमित है।

अमृतराय की साहित्यिक प्रेरणा में नारी की दयनीय स्थिति का भी विशेष स्थान है। वे यह मानते हैं कि वर्तमान काल में नारी पूज्य कम भोग्या अधिक समझी जाती है। वह पुरुषों के हाथ की कठपुतली मात्र हैं। शरीर से अधिक शक्तिशाली तथा जीविका कमाने वाली होने के कारण उसने स्त्री को सदैव दासी समझा। पुरुष की शारीरिक एवं मानसिक सन्तुष्टि के लिए उसे श्रृंगार एवं सेवा से विभूषित रहना आवश्यक बताया गया, उसके सन्तान की जन्मदात्री होकर भी वह वास्तविक अर्थों में उसकी सहधर्मिणी न बनकर केवल अंकशाविनी ही बनी रही। नारी जागरण और नारी शिक्षा तथा अनेक आन्दोलनों द्वारा सुधारवादियों ने उसकी दशा सुधारने के प्रयत्न किए किन्तु अपवाद स्वरूप ही आदर्श स्थिति के दर्शन होते हैं। अन्यथा अधिकांश शिक्षित एवं व्यवसायी महिलाओं की स्थिति भी शोचनीय है। अनमेल विवाह, अशिक्षा, दहेज एवं पर्दा प्रथा, विधवाओं की उपेक्षित स्थिति, वेश्या प्रथा आदि कुरीतियों ने अमृतराय से धुआँ, बीज, हाथी के दाँत, जंगल, नागफनी का देश एक साँवली लड़की आदि की रचना करवाई। अछूतोद्धार, पिछड़े वर्ग के प्रति सहानुभूति अस्पृश्यता उन्मूलन आन्दोलनों से अमृतराय के साहित्यकार को उनके हितार्थ लिखने के लिए असीम प्रेरणा मिली। 'बीज' उपन्यास में उषा हरिजनों की बस्ती में जाकर रात्रि पाठशाला चलाती है। उनकी हड़ताल में सक्रिय भाग लेकर नेता बन सबसे आगे जा घायल तक हो जाती है। चमार की औलाद, जाँगर चोर आदि कहानियाँ भी इसी भावना पर आधारित हैं।

मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ने भी अमृतराय को अनेक कथावस्तुएँ प्रदान कीं। साम्यवादी आन्दोलनों, रूस की प्रदर्शनी, फिल्म आदि से 'बीज' उपन्यास भरा हुआ है। सत्य, उषा, वीरेन्द्र, प्रफुल्ल बाबू आदि ने तत्कालीन परिस्थितियों में मार्क्सवादी चिन्तन के अनुसार सक्रिय भाग लिया। उसके लिए वे जेल गए। उन्होंने सर्वहारा के दुःखों को दूर करने के लिए भी यथाशक्ति प्रयत्न किए। उनकी अन्य रचनाओं में भी इसकी पर्याप्त छाप मिलती है। अमृतराय के रचनाकाल तक फ्रायड का मनोविश्लेषण सिद्धान्त स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को स्वस्थ दृष्टिकोण दे चुका था और क्षुधा के समान ही काम को नैसर्गिक आवश्यकता मान चुका था। अमृतराय फ्रायड को एक मनीषी मानते हैं। उसने संसार के सामने पूरी नयी दुनिया ही खोल कर रख दी। अतः अब उन सम्बन्धों के बारे में बात करने में संकोच का अनुभव नहीं किया जाता है। अपने साहित्य में आयी यौन नैतिकता के खुलेपन का श्रेय वे युग को ही देते हैं।

अमृतराय के कथा साहित्य में राजनीतिक परिवेश का भरपूर प्रभाव हमें दृष्टिगत होता है, 'बीज' में इसमें तत्कालीन राजनीतिक परिवेश का विस्तृत निरूपण हुआ है। इसी समय विदेशी वस्तुओं का बायकाट हुआ। दुकानों पर धरना दिया गया, जिसके कारण नित्य प्रति धर पकड़ होती थी। इसका वर्णन अमृतराय की 'तिरंगे कफन' कहानी में है। इसी प्रकार सन् 1943 के बंगाल के अकाल के भीषण परिणामों का भी इन्होंने अपने साहित्य में पर्याप्त चित्रण किया है। 15 अगस्त, 1947 को भारत स्वतंत्र हुआ। देश किस प्रकार इस स्वतंत्रता का हर्षोल्लास से स्वागत करने में मग्न था, जनता के मन में क्या-क्या आशाएँ थीं, इन सब का चित्रण भी हम उनके 'बीज' उपन्यास एवं कुछ कहानियों में पाते हैं। इस स्वतंत्रता के साथ ही साथ देश का विभाजन हुआ। इसने शरणार्थी समस्या को जन्म दिया, दोनों देशों की स्त्रियों पर अनेक पाशविक अत्याचार किए गए। देश साम्प्रदायिकता की ज्वाला में जल उठा। इन सब का चित्रण 'बीज', 'धुआँ, व्यथा का सरगम' आदि में किया गया है।

इसी प्रकार कांग्रेस शासन की अनीति दुर्व्यवहार, नेताओं का अनावश्यक शोषक रूप, अवसरवाद, घूसखोरी, इन सब ने मिलकर अमृतराय को भी समस्त बुद्धिजीवियों के समान यह सोचने पर विवश किया कि कहीं कुछ नहीं हुआ, नहीं तो आजादी की शक्ल ऐसी नहीं होती। इन सब परिस्थितियों का अमृतराय पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। उनके मार्क्सवादी चिन्तन के अनुसार "जब तक आर्थिक शोषण से मुक्ति नहीं मिलती, जनता की स्थिति में सुधार सम्भव नहीं क्योंकि अर्थ ही सबके मूल में विद्यमान है। उनके प्रथम उपन्यास 'बीज' की पृष्ठभूमि यहाँ की आर्थिक समस्या है। ''नागफनी का देश'' उपन्यास में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की खोखली आर्थिक स्थिति का मार्मिक वर्णन है। ''हाथी के दाँत'' में पूँजीवादियों का चित्रण किया गया है। अमृतराय के नवीनतम उपन्यास 'धुआँ' में स्वतंत्रता के पश्चात् की गरीबी का वर्णन है। इसी प्रकार उनकी अनेक कहानियों पर भी उस समय की आर्थिक स्थिति का प्रभाव परिलक्षित होता है।

समाजवादी धारा के अनुसार, अमृतराय अपने साहित्य द्वारा प्रगतिवादी शक्तियों को प्रतिक्रियावादी शक्तियों पर विजयी दिखलाकर समाजवादी जीवन की स्थापना करते हैं। प्रगतिवादी आन्दोलन से प्रेरित होकर अमृतराय ने अपने साहित्य में शोषण के विरुद्ध आवाज उठाई है। इनका साहित्य समाज एवं साहित्य को एक-दूसरे का पूरक मानकर लिखा गया है। अतः कोरी कलावादिता के विरुद्ध है। मार्क्सवादी प्रभाव के कारण शोषण के हर रूप का उसमें चित्रण किया गया है। उसे दूर करने के लिए ठोस उपाय भी सुझाए गए हैं। इनके साहित्य में समष्टि हित समर्थन की भावना निहित है, साम्प्रदायिक वर्ग भेद को मिटाने के लिए वे प्रयत्नशील है। अपने सिद्धान्तों के समर्थन में अपने रूप बन्ध में अमृतराय ने परिवर्तन एवं प्रयोग किए हैं। इस प्रकार अमृतराय का साहित्य प्रगतिवाद की प्रेरणा से उसी की पुष्टि के निमित हुआ है।

अमृतराय ने साहित्यकारों के संसर्ग में अपने जीवन के प्रारम्भिक दिन व्यतीत किए हैं, उन अनुभवों की गहरी छाप उनके साहित्य में है। पिता प्रेमचंद से उन्हें मानवतावादी रचना की प्रेरणा मिली। शिक्षा समाप्त होने पर अपनी माता की इच्छा के विरुद्ध अमृतराय ने अन्तर्जातीय विवाह किया। इस विवाह ने उनकी माता को बहुत अधिक रुष्ट किया। अमृतराय माता-पिता की कनिष्ठ सन्तान होने के कारण घर में सबको विशेष प्रिय थे। किन्तु विवाहोपरान्त जब उन्हें अपने और पत्नी के प्रति माता की रोज-रोज नाराजगी और क्षोभ का सामना करना पड़ा, तो वे क्षुब्ध हो उठे। उनकी कहानी 'आह्वान' तथा उपन्यास 'बीज' में इसी टीस की झलक मिलती है। मार्क्सवाद से भी वे बहुत अधिक प्रभावित थे। उनका साहित्य इसकी प्रतिध्वनि है।

इसी प्रकार जीवन की एक दुर्घटना ने उन्हें बुरी तरह प्रभावित किया था। वह है- 18 वर्ष की अल्पायु में उनके छोटे बेटे की रक्त कैंसर से होने वाली अकाल मृत्यु। सुख-दुख उपन्यास इसी दुःख से अभिभूत होकर लिखी गई करुण गाथा है। 'चित्र फलक' भी पुत्र वियोग की कहानी है। इन दोनों में किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन न होकर, पुत्र शोक के सद्योपरान्त लिखे होने के कारण दुःख से तप्त हृदय की व्यक्तिगत गाथा है।

अमृतराय ने अपने कथात्मक अनुभवों के आधार पर लिखा है 'उम्र पकने के साथ जीवन के अनुभवों का कोष जो समृद्धतर होता चलता है, उससे जरूर समझ में गहराई आती होगी, संवेदना भी कदाचित् कुछ अधिक परिष्कृत होती होगी, जो सब अपने रहस्यमय ढंग से कहानी के अन्दर उतर आता होगा।

डॉ. अनुराधा शुक्ला, हनुमान मंदिर चौक बिजुरी, वार्ड नं. - 10, जिला अनूपपुर मध्य प्रदेश।
मो. : 7974612940

✧ ✧ ✧

जन-मन के सहज शिल्पी : डॉ. रामदरश मिश्र

प्रो. दिनेश प्रसाद सिंह

'उपन्यासकार का अपने परिवेश के साथ जुड़ना आन्तरिक और बाह्य दोनों रूप में अर्थात् ज्ञानात्मक और संवेदनात्मक दोनों स्तरों पर अनिवार्य है।... अपने आसपास की असंख्य वस्तुओं और सूचनाओं के वर्णन मात्र से परिवेश का रचनात्मक उपयोग होना आवश्यक नहीं है। उपन्यास में परिवेश उसी तरह घुला हुआ, रचा-बसा हुआ होता है जैसे दूध में मक्खन या फूल में सुगन्ध। उपन्यास में बाहर से दिखाई पड़ जाए, तो परिवेश रचनात्मक न रहकर प्रचारात्मक या गैर-रचनात्मक हो जाता है। इसलिए परिवेश का प्रश्न रचनाकार के यर्थाथबोध से अनिवार्यतः जुड़ा हुआ होता है।.....

सामान्य व्यक्ति अपने जीवन-क्रम में, मौसम, राजनीतिक, नैतिक आधारों और समय की स्थूल सच्चाइयों के प्रति जाने-अनजाने सतर्क रहता है। उसके मन में परिवेश की कोई स्पष्ट अवधारणा नहीं होती, न उसे इस किस्म की कोई जरूरत होती है।

साहित्य की समस्त विधाओं में उपन्यास समसामयिक मिजाज को बड़े खुलेपन से अभिव्यक्त करता है। समसामयिकता की अभिव्यक्ति के लिए उसे अपने अस्तित्व के लिए लम्बी लड़ाई भी लड़नी पड़ी है। सतही और सस्ते उपन्यासों से अपनी अलग पहचान बनाने के लिए और अपनी अहमीयता बनाए रखने के लिए इसे भरपूर प्रयास करना पड़ा है। लगातार अपने को परिमार्जित करते रहने के कारण उपन्यास समाज के आंतरिक और बाह्य जीवन यथार्थ को बड़ी सफलता से व्यंजित करने में समर्थ हो सका है। सामाजिक जीवन एवं युगबोध की सर्वाधिक स्पष्ट अभिव्यक्ति उपन्यास द्वारा ही संभव है। आचार्य लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय का अभिमत है कि 'प्राचीनकाल में जो स्थान महाकाव्यों का था, वही स्थान आज उपन्यास का है। उसका महत्व अन्य साहित्यिक रूपों की अपेक्षा कहीं अधिक है, क्योंकि वह जीवन को अधिक निकटता से देखता है और उसका विश्लेषण करता है। ...

साहित्य के अन्य रूपों की अपेक्षा उपन्यास में जीवन की यथार्थता, सत्यता, आवश्यकताएँ, संभावनाएँ और स्वतंत्र व्यक्तित्व और मूल्यों का निरूपण अधिक होता है। वस्तुतः उपन्यास जीवन को इतनी निकटता से देखता और परखता है कि उसमें जीवन की सभी खूबियों और खामियों को

अभिव्यक्ति मिल जाती है। उसकी रचनात्मक क्षमता के समक्ष अन्य विधाएँ गौण पड़ जाती हैं। अपनी छोटी-सी समयावधि में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को इसने अपनी रचनात्मक परिधि में समेट लिया है। आधुनिक साहित्य में जीवन के विविध पक्षों को लेकर उपन्यास लिखे गए और उसका विशिष्ट वर्ग निर्धारण भी किया गया। प्रारंभ में उपन्यास का रूप इतना बहुआयामी नहीं था किन्तु ज्यों-ज्यों विभिन्न साहित्यिक रूपों का विकास होता गया, उसी क्रम में उपन्यास के विषयों में भी विविधता आती गयी और उसके क्षेत्र का विस्तार होता गया। सामाजिक जीवन को व्यापक अनुभव एवं गहरी संवेदना के साथ प्रस्तुत करने के कारण उपन्यास से पाठकीय मानस अधिक तृप्त होता है। यहाँ एक प्रश्न विचारणीय है कि वस्तुजगत में जो भी घटित हो रहा है, उसे यथावत् उपन्यास में उतार देना ही लेखक के गहन अनुभव की पहचान है। क्या इन घटनाओं का यथावत् चित्रण ही उपन्यास की परिवेशगत उपलब्धि है? ऐसा नहीं क्योंकि घटनाओं से परिवर्तित होने वाली परिस्थितियों से जीवन में जो उतार-चढ़ाव आता है, जो प्रतिक्रियाएँ होती हैं अर्थात् बाह्य परिवेश से प्रभावित आंतरिक परिवेश के बदलाव को ही आँकता है। पुरानी मान्यताएँ छोड़ने तथा नये मूल्यों को अपनाने के दौरान व्यक्ति अपने संस्कार एवं परिवर्तित जीवन-मूल्य के द्वन्द्व में फँस जाता है। मानसिक संघर्ष और तनाव से उसे गुजरना पड़ता है। जब उपन्यासकार जीवन को परिवर्तित करने वाली ऐसी परिस्थितियों के परिणामस्वरूप मानव-जीवन मे आए द्वन्द्व एवं संघर्ष को बड़ी सतर्कता एवं तटस्थता से चित्रित करता है, यही उसकी परिवेशगत उपलब्धि होती है। इस कार्य में तटस्थता आवश्यक है अन्यथा यदि उपन्यासकार किसी भी वाद या विचारधारा को हामी देने लगता है तो वैसी ही अभिव्यक्ति रचना में भी होने लगती है और किसी वाद-विशेष का लेबल उस पर लग जाता है। किसी भी मतवाद का आग्रह उसे अपने संकल्प से डिगा सकता है। उपन्यास, जीवन की सशक्त एवं सर्वांगीण अभिव्यक्ति है। यह अपने विस्तृत कलेवर में जीवन को चतुर्दिक आवेष्टित किए सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं नैतिक आदि समस्याओं को उद्घाटित करता है, उसकी व्याख्या करता है और कभी-कभार निदान भी प्रस्तुत करता है। अपने इस सामर्थ्य के कारण उपन्यास, साहित्य के अन्य प्रतिरूपों से बहुत आगे निकल गया है। प्रकारान्तर से यह कहा जा सकता है कि जीवन की सर्वाधिक सफल अभिव्यक्ति उपन्यास के माध्यम से ही संभव है। वह अपने परिवेश का यथार्थ बिम्ब है। हिन्दी उपन्यास साहित्य के विकास में उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी का विशेष महत्व है। सामाजिक दृष्टि से भी यह विशेष उथल-पुथल का काल रहा है। इस काल में विभिन्न राजनीतिक दलों की सक्रियता और तदनुसार राजनीतिक परिवर्तन, देश की उपलब्धि के रूप में जाना जाता है- देश स्वाधीन हुआ। गुलामी की जंजीर टूटी। दासता की बेड़ियों से जकड़ा भारतीय मानस एक बार पुनः भविष्य की ओर निःशंक दृष्टि से देखने लगा, क्योंकि स्वाधीनता उनकी आशा और आस्था का प्रतीक था। उनकी आँखों में खुशहाली के सपने तैर रहे थे। देश की आजादी उनकी आशा-आकांक्षा, सुख-समृद्धि, प्रेम और आस्था का प्रतीक था। देश के नेताओं के विभिन्न आश्वासनों से देशवासियों के मन में यह

विश्वास जगा कि उनके दिन अब फिरेंगे और समाज से गरीबी, अनैतिकता, असमानता की भावना दूर होगी तथा जीवन की मूलभूत जरूरतें पूरी होंगी। आजादी की एक मनोहर तस्वीर उनकी आँखों के समक्ष थी। लेकिन कुछ साल बाद ही आश्वासनों की निरर्थकता एवं खोखलापन उजागर हो गया। अधिकांश नेता अपने हित-संपादन में लग गए और आम जीवन उपेक्षित हो गया। भारत की मिट्टी से जुड़े साहित्यकारों ने जन-जीवन के इस दर्द को अपने जीवनानुभव के साथ साहित्य के माध्यम से व्यंजित किया। रामदरश मिश्र ने भी जीवन और जगत के सत्य को अपने जीवन यथार्थ के माध्यम से पकड़ा और व्यक्त किया। डॉ. नित्यानंद तिवारी और डॉ. ज्ञानचन्द गुप्त से 'साक्षात्कार' के क्रम में स्वयं मिश्र जी ने कहा था- 'मैं कहना चाहूँगा कि जीवन की भूमिका का वैचारिक विश्लेषण प्राप्त हुआ, किन्तु यह कार्य अनुभव के धरातल पर बहुत पहले शुरू हो गया था। शायद इसका कारण यह है कि एक अभावग्रस्त परिवार, क्षेत्र और कछार में जीवन जीने के कारण मेरे अनुभव सामाजिक जीवन यथार्थ से ही बने थे। इसलिए एक ओर उस कछार की प्रकृति मेरे अनुभव में समाई हुई थी, दूसरी ओर समाज।

'डॉ. रामदरश मिश्र के उपन्यास परिवेश की नब्ज पकड़ने में पूर्ण सक्षम हैं। आजादी के पश्चात् जनतंत्र की भावना को बलवती बनाने के लिए कई प्रगतिशील कार्यक्रम आरम्भ हुए, किन्तु इसकी व्यावहारिक उपयोगिता निरर्थक सिद्ध हुई। आम लोगों के जीवन में कोई प्रगति, कोई बदलाव नहीं आया। फलस्वरूप अनास्था, अविश्वास मोहभंग ने जन-मानस को झकझोर कर रख दिया, जिसका आवश्यक प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा। रामदरश जी वैसे ही सिद्ध-हस्त साहित्यकार हैं, जिन्होंने सामाजिक जीवन के दर्द की सही परख और पकड़ की है। तीसरे अध्याय में उपन्यास के वर्गीकरण के मान्य आधारों की चर्चा करते हुए आचार्य मिश्र के उपन्यासों का स्थूल वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है तथा मिश्र जी के सभी उपन्यासों के मूल स्वर को पकड़ने का प्रयास किया गया है। इस दृष्टि से यह अध्याय सर्वथा मौलिक है। चौथे अध्याय में मिश्र जी के उपन्यासों में निहित सामाजिक समस्याओं का विश्लेषण किया गया है। स्वातंत्र्योत्तर सामजिक समस्याओं में सबसे मुख्य समस्या विघटन की है। विघटन के सर्वग्रासी प्रभाव से सामाजिक जीवन का कोई पक्ष अछूता नहीं है। इसकी सोदाहरण व्याख्या इस अध्याय में प्रस्तुत है। पाँचवें अध्याय में मिश्र जी के उपन्यास साहित्य में वर्णित राजनीतिक समस्याओं का सोदाहरण विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। स्वतंत्रता के पश्चात् राजनीतिक आँधी ने सहसा जीवन को झकझोर दिया। राजनीतिक परिवर्तन ने शहर एवं ग्रामीण दोनों परिवेशों को आंदोलित कर दिया। जमींदारी उन्मूलन, ग्राम-पंचाचत, चकबन्दी आदि विभिन्न योजनाएँ, जीवन के उत्थान के लिए लागू तो की गयीं, कुछ विकास-कार्य भी हुए, किन्तु जल्द ही इन पर उच्चवर्ग का प्रभुत्व हो गया और कोढ़ में खाज की तरह जातीय भावना प्रबल हो उठी। इन समस्त तथ्यों पर इस अध्याय में विचार किया गया है। छठे अध्याय में अर्थ एवं उसके महत्व पर विचार किया गया है। आर्थिक दुर्व्यवस्था के कारणों के रूप में जमींदार वर्ग एवं सरकारी कर्मचारियों के दुर्व्यवहार

की चर्च की गयी है। जमींदार उन्मूलन से क्षुब्ध जमींदार एवं सम्पन्न वर्ग ने शोषण की रवैया बदल दिया लेकिन शोषण जारी ही रहा। फलस्वरूप गाँव का आचार्य रामदरश मिश्र हिन्दी साहित्य के लब्ध-प्रतिष्ठ संवेदनशील साहित्यकार हैं। इनका साहित्य जीवनानुभूतियों से सिंचित है। सामाजिक जीवन का कोई पक्ष इनसे असंपृक्त नहीं रहा। कभी ग्रामीण-जीवन में गहरे पैठ कर ग्रामीणों की जीवनारोधी परिस्थितियों को उद्घाटित किया तो कभी शहरी परिवेश की विषमताओं को अपनी कृति के द्वारा अभिव्यक्त किया। इस प्रकार अपने सामाजिक दायित्व का पूर्णरूपेण निर्वाह इन्होंने किया। जीवन के प्रति अखंडित आस्था इनके साहित्य का मूल प्रस्थान-बिन्दु है। मनुष्य के जीवन पर उसके परिवेश का निर्णायक प्रभाव रहता है। मिश्र जी का आरंभिक जीवन अत्यन्त अभावग्रस्त और संघर्षपूर्ण रहा। 'एक अभावग्रस्त टूटा-फूटा घर, कर्ज में डूबे माँ-बाप और नौकरी के लिए दर-दर भटकते और बीमार पड़ते भाई।'- यह उनका पारिवारिक माहौल था। परिवार जीवन का बुनियादी आयाम है और मिश्र जी के जन्म तक उनका परिवार अभावों की सख्त गिरफ्त में आ चुका था। पिता रामचन्द्र मिश्र अपने पिता की इकलौती संतान थे। लाड़-प्यार में पले बचपन को शादी के बाद भी दायित्वबोध का ज्ञान नहीं हुआ। क्योंकि उनके पिता स्वयं शक्तिशाली लठैत थे और किसी जमींदार के यहाँ काम करते थे इसलिए अभाव का नामो-निशान न था। इसके विपरीत रामचन्द्र मिश्र सैलानी वृत्ति के थे और दुनियादारी से कोसों दूर। इसलिए रोजमर्रा खर्च के लिए कर्ज लिया जाने लगा और कर्ज की कमली भारी होती चली गयी। इसी समय मिश्र जी का जन्म हुआ। इनके व्यक्तित्व निर्माण में पिता की उन्मुक्त एवं माता की कर्मठता एवं स्वाभिमान का संतुलित योग रहा। माता कंवलपाती ने उगते हुए अभाव के बीच घर को संभाले रखा। 'उनमें कर्म और संगीत का अद्भुत संतुलन था। उसने एक ओर अपने कर्म, अपने स्वाभिमान, अपने संघर्ष से घर को शक्ति दी, गौरव दिया, दूसरी और अपने व्यक्तित्व के सांस्कृतिक आयाम द्वारा गाँव की औरतों हो, हर जगह माँ का नेतृत्व था। वह बहुत अच्छा गाती थीं, उन्हें अनुष्ठानों के विधि-विधानों का ज्ञान था, लोककथाओं की ज्ञाता थी। उसका व्यक्तित्व शारीरिक रूप से जितना सुन्दर था उतना ही मानसिक रूप से भी। पिताजी अकेले और अभावग्रस्त होने के कारण दब्बू बन गए थे, माँ में ऊर्जा थी, वह अभावों में भी तनी हुई थी, किसी की धौंस बर्दास्त नहीं कर सकती थी... माँ पिताजी के अकर्मठ, सैलानी और दब्बू स्वभाव से चिढ़ती थीं, ... सांस्कृतिक और सामाजिक क्षेत्रों में दोनों ही चैंपियन थे, लेकिन एक में संतुलन था, एक में असंतुलन। लेकिन ममतामय व्यक्तित्व दोनों का था। ... पिताजी ज्यादा भावुक थे ... वे खुद घूमते थे गाते-बजाते और हम लोगों को भी खूब स्वतंत्रता दे रखी थी... हम कहीं उनका आतंक अनुभव नहीं करते थे वरन् मिश्र का सा खुलापन और स्नेह पाते थे। मुझे जीवन को देखने का इतना अवसर शायद उनकी दी हुई स्वतंत्रता के कारण ही मिला और सारे अभाव के बावजूद जो अकुंठ मस्ती मिली उसका भी कारण वह स्वतंत्रता ही थी।... माँ हमारे अस्तित्व को अपने ठोस हाथों द्वारा संवार-सहेज रही थी और हमें अभावजन्य दीनता का अनुभव करने से बचार

रही थी।' इस लंबे उद्धरण से मिश्र जी के उस पारिवारिक परिवेश का ज्ञान मिलता है, जिसमें मिश्र जी का बचपन विकसित हुआ। मिश्र जी का चतुर्दिक-परिवेश भी कम अभावग्रस्त न था। बीहड़-कछार में बसा एक गाँव-डुमरी, जिसके एक ओर राप्ती बहती है तो दूसरी ओर गोर्रा। दोनों नदियों ने डूमरी जैसे सैंकड़ों गाँव को अपने कुँजलक में समेट रखा है। चारों तरफ करीब दस मील तक कोई पक्की सड़क या रेल नहीं थी। उत्तर में दस मील बाद चौरीचौरा या सरदार नगर था, कुसुम्हीं स्टेशन था, दक्षिण में दस मील पर एक गगहा में पक्की सड़क थी, पूरब में दस मील पर रूद्रपुर में पक्की सड़क थी, पश्चिम कुछ कम छः मील पर ही पक्की सड़क थी। यातायात का कोई साधन नहीं था। तिस पर भी हर साल बाढ़ का प्रकोप... आदिगंत पानी का विस्तार एक भरा-पूरा संसार देखते-ही-देखते आँखों के आगे से छिन जाता था। आँखों में निरुपता भर जाती थी। फिर बाढ़ के लौट जाने पर बचता था- रेत का विस्तार, असीम सूनापन और लोगों की आँखों में भयावह स्तब्धता- अब क्या होगा? का मौन प्रश्न। फिर कर्ज और उपवास का सिलसिला तथा अभावजन्य यातनाओं का दौर।

1969 में 'जल टूटता हुआ' का प्रकाशन हुआ था और 1970 में 'आदिम राग' या 'बीच का समय' का फिर भी अभी चर्चा का आकर्षण 'जल टूटता हुआ' ही था। 1972 में 'सूखता हुआ तालाब' का प्रकाशन हुआ, जो काफी चर्चित हुआ। इसी बीच 'अपने लोग' लिखा जाने लगा, जो 1976 में प्रकाशित हुआ। मिश्र जी का यह उपन्यास काफी चर्चा का विषय बना। प्रकाशन के समय देश में आपातकाल लग गया था। मिश्र जी के 'अपने लोग' में साम्प्रदायिक विषमता का वर्णन है। इसे ही लक्ष्य बनाकर लोगों ने कहना शुरू किया कि 'अपने लोग' में साम्प्रदायिकता का स्वर है। इमरजेंसी का समय था। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी लखनऊ के विधायक रिजवी साहब को पत्र लिखा कि 'अपने लोग' का एक साम्प्रदायिक मानसिकता का पात्र संवाद के कम में मुसलमानों के प्रति दुराव व्यक्त करता है। यह उस पात्र की मानसिक विकृति का परिचायक है। उपन्यास में तुरंत ही कई पात्र मिलकर उसके साँचे की धज्जियाँ उड़ा देते हैं। रिजवी साहब ने सच्चाई को स्वीकार किया और स्थिति को संभालने लगे। मिश्र जी के मित्र उर्दू विभाग के प्रवक्ता ने भी कहा कि 'यह डायलॉग उर्दू में लिखा दो' साथ ही उन्होंने वे अंश भी उतार लिए, जो मुसलमानों के प्रति लेखक के सद्भाव के परिचायक थे। डॉ. नगेन्द्र ने भी कमलापति त्रिपाठी से मिलकर स्थिति स्पष्ट करने को कहा। मिश्र जी ने अपनी स्थिति स्पष्ट की तो वे भी आश्वस्त हुए। उन्होंने भी समझा कि 'इसे गलत ढंग से पेश किया गया है।' अमीर आरफी साहब 'अलजमइत' के सम्पादक से जाकर भिड़ गए। वे भी सिटपिटा गए और अपनी स्थिति साफ करते हुए बताया कि 'कालमिस्ट साहब को किसी ने फोन पर बताया कि 'अपने लोग' उपन्यास के अमुक पृष्ठ पर मुसलमानों के खिलाफ छपा है। उन्होंने किताब मंगाई और छाप दिया' मिश्र जी ऊहापोह में फंस गए कि उपन्यास निकले कुछ ही दिन हुए हैं, ऐसा कौन व्यक्ति हो सकता है, जो ऐसी दुर्भावना मन में रखे हो और उसका ऐसा घटिया प्रयोग करे, कुछ साहित्यकार चिंतित थे, कुछ मजे ले रहे थे।

मिश्र जी साम्प्रदायिकता के जुर्म में जेल की हवा खाने की दहशत से भरे हुए थे। सरकार एवं उसकी नीति के विरोध में अनेक चर्चाएँ उनके उपन्यासों में हैं। उसका फायदा आपातकाल के दौरान लोग उठाते तो सह्य था लेकिन जिस साम्प्रदायिकता को मनुष्यता के लिए कलंक माना, उसी का अपराधी होकर बंदी होना मरने के समान था। सी.बी.आई. का जाँच चल रहा था। पढ़े-लिखे अफसर इस कार्य में लगे थे। डॉ. अमीर आरफी ने हस्ताक्षर अभियान चला रखा था। उर्दू के अनेक साहित्यकार और मुसलमान लेखकों ने उस पर हस्ताक्षर किया। कुछ ने हिन्दी लेखकों के हस्ताक्षर एकत्रित किए, मिश्र जी ने इसे हस्ताक्षरों के साथ एक पत्र प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गाँधी को लिखा। 'अलजमइल' के संपादक ने भी अपनी गलती मान ली थी। आपातकाल भी समाप्त हो गया और साथ ही यह खुशखबरी भी मिली कि जाँचकर्ताओं ने प्रशासन के आरोप को निरस्त कर दिया है। मिश्र जी आरोपमुक्त हो गए। 'अपने लोग' के भारी-भरकम आकृति की छाँह में 1976 का रात का सफर आदिम राग के सदृश्य छिप गया। चर्चाओं में तो नहीं आया पाठकों में लोकप्रिय जरूर हुआ। 1978 में मॉडल टाउन में पानी भर आया। पानी का बढ़ाव देखकर जल्दी-जल्दी खाने-पीने, ओढ़ने-बिछाने का सामान लेकर ऊपर भागे। मॉडल टाउन जैसी अभिजात कॉलोनी इतना पानी से भर सकती है, इसका अनुमान भी नहीं था। यहाँ खाते-पीते लोग रहते थे इसलिए खाने-पीने की समस्या यहाँ नहीं हुई, न लोगों का घर उजड़ा, न पेड़ों पर लाशें अटकी, न डूबने का ही डर यहाँ था लेकिन इस अप्रत्याशित बाढ़ ने दैनिक जीवन को उथल-पुथल कर दिया। किसी के घर आटा खत्म हो गया, कहीं तेल, किसी का चावल तो किसी का दाल। दूध के बिना बच्चे बिलख रहे थे। इस बाढ़ का भोगा हुआ यथार्थ 'यश' के माध्यम से आकाश की छत में व्यक्त होता है। चौथे दिन सुबह तक फर्श से पानी हट गया था। 1979 में सरस्वती जी के प्रयास और नेतृत्व से उत्तमनगर कॉलोनी में मकान बनना शुरू हुआ और काफी व्यवधानों के बाद घर रहने के लायक हुआ। उत्तम नगर की तरह उसका यह मुहल्ला 'वाणी विहार' भी अधबना था। अन्य कोई असुविधा नहीं थी, जीवन की मूलभूत वस्तुओं का अभाव नहीं था। एक समस्या थी पानी की जो कई वर्षों बाद ही हल हो सकी। 'वाणी विहार' मिश्र जी को प्रिय था क्योंकि उसमें गाँव की गंध थी। निरन्तर एक चहल-पहल थी। सभ्य मुहल्लों की तरह अपने आप में सिमटे इंसान नहीं थे। यहाँ कई प्राध्यापक हैं, शिक्षकों की एक दुनिया थी। शिक्षकों में भी साहित्यकारों की एक दुनिया थी। 'आर्वाद', 'लेखनी', 'मीमांसा', 'भारतीय लेखक संगठन' के माध्यम से संगोष्ठियाँ आयोजित होती रहती थीं।

रामदरश मिश्र जी ने वर्तमान व्यवस्था के अमानवीय स्वरूप को हृदयगत संवेदना के साथ अपने उपन्यासों में प्रस्तुत किया है। उनकी सृजनात्मक शक्ति शहरी एवं ग्रामीण, दोनों जीवन की विषमताओं को साथ लेकर चली है। उनकी सृजनात्मक शक्ति की धुरी है- गहरी मानव-संपृक्ति। आधुनिक युग की भौतिकवादी व्यवस्था में मूल्य का सिलसिला जारी है। इस परिस्थिति में यह व्यक्ति मर्मान्तक पीड़ा झेलता है, जो परंपरा से या जीवन- मूल्यों से अपने को

पृथक नहीं कर पाता है। डॉ. रामदेव शुक्ल की धारणा है कि- 'उपन्यासकार का अपने परिवेश के साथ जुड़ना आन्तरिक और बाह्य दोनों रूप में अर्थात् ज्ञानात्मक और संवेदनात्मक दोनों स्तरों पर अनिवार्य है।... अपने आसपास की असंख्य वस्तुओं और सूचनाओं के वर्णन मात्र से परिवेश का रचनात्मक उपयोग होना आवश्यक नहीं है। उपन्यास में परिवेश उसी तरह घुला हुआ, रचा-बसा हुआ होता है जैसे दूध में मक्खन या फूल में सुगन्ध। उपन्यास में बाहर से दिखाई पड़ जाए, तो परिवेश रचनात्मक न रहकर प्रचारात्मक या गैर-रचनात्मक हो जाता है। इसलिए परिवेश का प्रश्न रचनाकार के यर्थाथबोध से अनिवार्यतः जुड़ा हुआ होता है।.....

सामान्य व्यक्ति अपने जीवन-क्रम में, मौसम, राजनीतिक, नैतिक आधारों और समय की स्थूल सच्चाइयों के प्रति जाने-अनजाने सतर्क रहता है। उसके मन में परिवेश की कोई स्पष्ट अवधारणा नहीं होती, न उसे इस किस्म की कोई जरूरत होती है। वहीं उपन्यासकार का आधार ही परिवेश बोध होता है। रचना का कच्चा उपकरण यह परिवेश के भीतर से ही सहेजता है।

मिश्र जी वर्तमान व्यवस्था के अमानवीय स्वरूप और तद्जन्य उत्पन्न निराशा, असंतोष और मनुष्य की व्यवस्था-तंत्र में पिसते मनुष्य की व्यवस्था को गहरी मानवीय स्पर्श के साथ अभिव्यक्त किया है। इस पीड़ा की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने अपने कछार क्षेत्र को आधार स्वरूप ग्रहण किया। भौगोलिक दृष्टि से उनका यह आधार क्षेत्र गोर्रा और रासी दो नदियों से घिरा हुआ था लेकिन जीवनदायिनी शक्ति एवं ऊर्जा प्रदान करने वाली नदी हर साल कहर बनकर गाँव-जीवन पर टूट पड़ती थी और गाँव-जीवन में अफाट सन्नाटा भर देती थीं। कछार-क्षेत्र का यह दर्द मिश्र जी के उपन्यासों की भाव-भूमि है। इसलिए 'मिश्र जी अपनी यात्रा-जीवन के किसी भी बिन्दु से क्यों न शुरू करें, वह चाहें व्यक्ति मन की नितांत निजी सम्बन्धों की अंतरंग दुनिया हो या मनुष्यता के न्याय के लिए चलने वाला समष्टिगत संघर्ष हो, उनके पैर हमेशा अपने अनुभव की जमीन पर ही रहते हैं।

अपने कछार-क्षेत्र के दर्द को आधार बनाकर मिश्र जी ने अपने आंचलिक उपन्यास- 'पानी के प्राचीर', 'जल टूटता हुआ' और 'सूखता हुआ तालाब' का प्रणयन किया। उनके शेष उपन्यास का संबंध शहरी जीवन से है, लेकिन प्रायः सभी पात्र संवेदना के धरातल पर गाँव से जुड़े होते हैं। जीवन के हर विपरीत क्षणों में उनकी चेतना अपनी ममतामयी धरती की स्मृति में डूब जाती है। डॉ. ज्ञानचन्द गुप्त ने अपनी पुस्तक 'आंचलिक उपन्यास : संवेदना शिल्प' में मिश्र जी के आंचलिक उपन्यासों की विशद चर्चा की है। डॉ. नगीना जैन की पुस्तक 'आंचलिक और हिन्दी उपन्यास' में आंचलिक उपन्यासों के क्रम में मिश्र जी के उपन्यासों की चर्चा की। डॉ. देवयानी प्रसाद ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की शिल्पविधि' में मिश्र जी के तीनों आंचलिक उपन्यासों का विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

मिश्र जी का प्रथम कहानी संग्रह है 'खाली घर', जो 1969 में प्रकाशित हुआ, जिसकी अधिकांश कहानियों में स्वाधीनता के पश्चात् सरकार की अव्यावहारिक नीति के कारण उपेक्षित ग्राम्य-जीवन और फलस्वरूप गाँव-जीवन में व्याप्त टूटन क्षोभ और आक्रोश का चित्रण है। 'खाली घर' की कहानियों की समीक्षा करते हुए नित्यानंद तिवारी ने लिखा है। रामदरश जी की कहानियों में अभीशप्त चरित्रों की वेदना का उभरना एक विशेष प्रवृत्ति को लक्षित करता है। किसी भी कारण जो शारीरिक रूप से अक्षम और अपंग है अथवा भावात्मक दृष्टि से भी कहीं गहरा सदमा पहुँचा है, उनकी पीड़ा की सघन अभिव्यक्ति हुई है। वस्तुतः लेखक गाँव-जीवन से जितना जुड़ा हुआ है शहरी जीवन के भी उतना ही करीब है। इसलिए स्वाधीनता के पश्चात् टुच्ची राजनीति ने गाँव जीवन में प्रवेश करके उसके पारंपरिक मूल्यों को तोड़कर जितनी विसंगतियाँ भर दीं, उसको सही-सही पहचाना और अपनी कहानियों में स्थान दिया। 'उनकी ग्राम जीवन से सम्बद्ध कहानियों में नये गाँव की संक्रांत चेतना की सही अभिव्यक्ति मिलती है। दूसरी ओर नगर से संबंधित कहानियों में नगर जीवन का अनुभूत सत्य। लेखक अनुभव का साथ छोड़ कहीं भी फैशन या आरोपण के जंगल में नहीं भटकता।' 'खाली घर' की प्रमुख कहानियाँ- 'खाली घर', 'माँ', सन्नाटा और बजता हुआ 'रेडियो', 'खण्डहर की आवाज', 'एक और यात्रा', 'छूटता हुआ नगर', 'चिट्ठियों के बीच', 'मंगल यात्रा', 'एक औरत : एक जिंदगी', 'एक भटकी हुई मुलाकात' आदि सभी कहानियों में पात्र द्वन्द्व को ही जीते हैं। डॉ. गिरीश चन्द्र श्रीवास्तव ने ठीक ही अभ्युक्ति दी है कि ये कहानियाँ गाँव और नगर के संदर्भों से जुड़े चरित्रों के द्वन्द्व को बड़ी बेबाकी से चित्रित करने में ही अपनी विशिष्ट पहचान बनाती हैं। यह स्वातंत्र्योत्तर भारत की वास्तविकता है कि गाँवों के लोग शहरों में बस जाने के कारण गाँव से कटते जा रहे हैं। यह एक वास्तविकता है कि वे गाँव से कटने के दर्द से पीड़ित भी हैं। परन्तु उनका यह दर्द रोमानी नहीं है। यह दर्द अपनी गतिशील जीवनधारा के मूल स्त्रोत से कटने का दर्द है, जो एक कटु वास्तविकता है और जिसे रामदरश मिश्र जैसे ग्राम-संवेदना के धनी रचनाकार ही सशक्त अभिव्यक्ति दे सकते हैं। आखिरी चिट्ठी 'बैला मर गयी', 'मुक्ति' आदि कहानियों में निम्न मध्यवर्ग का चित्रण है। मध्यवर्ग, उच्चवर्ग से जुड़ने की आकांक्षा में जमीन से छूटता जा रहा है और दूसरी तरफ रूढ़ियों, विसंगतियों के कारण खोखला भी होता जा रहा है। निम्न मध्य-वर्ग अपनी रूढ़ियों से इतना घिरा होता है कि स्वस्थ निर्णय नहीं ले सकता है। हमेशा द्वन्द्व की स्थिति झेलते रहना पानी के प्राचीर का आरम्भ होली से है। इसी प्रसंग में अनेक छोटी-बड़ी कथाओं का स्वरूप स्पष्ट होता है। जैसे- आहत निरबल तेली की कथा, बूढ़ा कहार रामदीन की कथा, नीरू तथा महेश के मतभेद की कथा, पांडे-पुरवा के पांड तथा पकड़िया के अहीरों के मतभेद की कथा, नीरू और संध्या के प्रेम की कथा, गेंदा के यौवन-उन्माद की कथा साथ ही पूरे गाँव में व्याप्त गरीबी एवं अंधविश्वास की कथा। ये विभिन्न कथा-केन्द्र है, जिनसे कछार अंचल का यथार्थ अपनी संपूर्ण विभीषिका के साथ जीवंत हो उठता है। इस यथार्थ अभिव्यंजना के पीछे है मिश्र जी का अपना अनुभव। लेखक

स्वयं इसी परिवेश की उपज है इसलिए एक-एक चरित्र इनका जाना-पहचाना है, एक-एक गीत इनके सुने हुए हैं, एक-एक बेबसी इनकी भोगी हुई है। भोगे हुए यथार्थ की नींव पर खड़ा यह उपन्यास पूरी सच्चाई एवं आत्मीयता से अपने परिवेश का उद्‌घाटन करता है। लेखक ने बड़ी स्पष्टता से अपनी आत्मकथा में इसे स्वीकारा है। उनके ही शब्दों में- हाँ, यथार्थ का यह बिम्ब हमारे परिवेश का बिम्ब है, जिसमें मैं हूँ, जो मुझमें है... गाँव में कुछ ही घर ऐसे थे (कुछ अधिक खेत वालों के थे, कुछ धूर्तों के थे) जो रोटी के सवाल से मुक्त थे, नहीं तो सभी घर के रोटी के सवाल से जूझते थे एक अजीब, अपमान, झिड़की, आत्म-हीनता से पीड़ित ये लोग दिन ढोते थे। आँखों में एक सीलन-भरा सन्नाटा अंटा होता था। तिस पर मालगुजारी के लिए कुर्क अपील का दौरा, लगान के लिए जमींदार के सिपाहियों का उत्पात, दरोगा जी का आतंक, कर्ज की वसूली के तकाजे, सरकारी चंदे, पटवारी जी की भेट, कुलगुरु जी का आगमन, लड़की की विदाई, तीज-त्योहार, अतिथि-सत्कार, मृत्यु सम्बन्धी औपचारिकता जीत धरम-करम, न जाने कितनी जोंके थीं, जो इन्हें चूसती थीं। मैंने सुना है। न जाने इनके कितने बिम्ब मेरे भीतर बसे हुए हैं- निजी संदर्भों के भी और सामाजिक संदर्भों के भी। उनका ईमानदार एवं निष्ठावान व्यक्तित्व उनके साहित्य को महिमामंडित किया है, जो उन्हें महान उपन्यासकारों की पंक्ति में बिठा देता है। उनका समाजवादी दर्शन जीवन-सापेक्ष है, मानव रहित दर्शन की कोई मूल्यवत्ता नहीं इसलिए सामाजिक जीवन की तमाम विरूपताओं के बावजूद लेखक भविष्य के प्रति आशान्वित हैं। जीवन सतत् प्रभावशील है, रामदरश जी अभी लिख रहे हैं इसलिए उनके अगले मानक उपन्यास की प्रतीक्षा में हैं। उनकी आस्था, विश्वास और लगन को देखकर यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि हिन्दी उपन्यास साहित्य को अभी और सम्पन्न करेंगे। मिश्र जी के अक्षय-ख्याति का आधार ग्रामीण जीन के प्रति गहरी निष्ठा है। यह निष्ठा कहीं से भी आरोपित नहीं है बल्कि सामाजिक जीवन की पीड़ा से उद्‌भूत मर्मस्पर्शी व्यंजनाएँ हैं। 'प्रेमचन्द एवं रेणु' के पश्चात् रामदरश जी ने देश की नब्ज पर अपनी सही पकड़ की है। इसलिए उनके उपन्यास में सर्वत्र एक विश्वास की अनुगूँज है। और उनके उपन्यास में आए चरित्र भी अपने वास्तविक परिवेश ही देश है। लेखक की स्वीकारोक्ति भी है कि मेरा गाँव न जाने कितने स्तरों पर मुझमें है न जाने कितने स्तरों पर मेरा निर्माण किया है, न जाने उसके वर्तमान और अतीत की कितनी जीवन-धाराएँ मुझमें जाने-अनजाने अपना वेग और प्रभाव छोड़ती गयी हैं। न जाने उसके जीवन के बीहड़ संगत में जीवंत चरित्रों के कितने पेड़ खड़े थे, जो मेरे अनुभवों में और मेरे रचना जगत में समाते गए हैं।

प्रो. दिनेश प्रसाद सिंह

✧ ✧ ✧

सीमा पार जनकपुर धाम

डॉ. मंजरी खरे

श्री राम की प्रतिमा के ठीक सामने हनुमान जी की प्रतिमा भी सुशोभित हो रही थी। यह मेरा छोटा-सा अनुभव रहा है कि स्वामी और सेवक के विग्रह परस्पर आमने-सामने ही होते हैं, फिर वह राम और हनुमान के हों अथवा शिव और नंदी के। करुणानिधान की कृपा अपने सेवक पर बनी रहे तथा सेवक प्रतिपल अपने स्वामी के दर्शन करते हुए उनकी सेवा में उपस्थित रह सके, संभवतः इसी मान्यता के कारण इस ढंग से प्रतिमाएँ स्थापित की जाती हैं। कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों प्रतिमाओं के बीच में उपस्थित हो जाना अनौचित्यपूर्ण तो नहीं। मंदिर की वास्तुकला ने तो चकित ही कर दिया, जब अध्यक्ष सर द्वारा यह ज्ञात हुआ कि यह सम्पूर्ण मंदिर एवं उसका परिसर काष्ठ निर्मित है। काष्ठ्य सामग्री से बना वह भव्य मंदिर मानो अपनी प्राचीनता और रचनात्मकता को लेकर समय को चुनौती दे रहा था।

चलते रहो, चलते रहो, चलना ही मधुर फल है, आनंद है, जीवन है। चलने वाला ही जीवन जी पाता है। यहाँ चलना केवल पैरों को आगे बढ़ाना ही नहीं है। यह भी नहीं कि जो दिव्यांग जन चल नहीं सकते, वे जी नहीं सकते। 'चलना' सिर्फ क्रिया नहीं है। यह जीवन्तता है। प्रकृति के द्वारा निरंतर दिए जाने वाले शाश्वत सन्देश का प्रतीक है। दिन के बाद रात और रात के बाद दिन होगा ही, आँधी-तूफान जैसे झंझावातों के बाद पुनः मधुर वातावरण छाएगा ही। इस तरह जब सृष्टि के निर्माता ने सुरम्य प्रकृति को सदैव गतिशील रहने का प्रतीक बना रखा हो तब फिर इस जगत के तमाम जीव कैसे स्थिर रह सकते हैं? जीवन एक संघर्ष है, उन कठिनाइयों से गुजरते हुए आगे बढ़ना ही तो 'चलना' कहलाता है। इस चलने के क्रम में यदा-कदा, सायास अथवा अनायास कुछ क्षण ऐसे भी निकल आते हैं, जो इस प्रकार हमें किसी स्थल विशेष की ओर भ्रमण पर ले जाते हैं।

इस प्रकार के विचारानुभव मुझे अपनी प्रथम विदेश यात्रा के क्रम में अनुभूत हो रहे थे। नेपाल स्थित 'जनकपुर धाम' की यात्रा के अचानक से निर्मित कार्यक्रम ने मेरी पूर्वोक्त अवकाश की योजना को हल्का-सा झकझोरा अवश्य था कि अवकाश के दिन क्या ही किया जाये, आराम बड़ी चीज है, मुँह ढँक के सोया जाये। सुबह के चार बज रहे थे। आँखें बंद

थीं, पर कान खुले थे। कोयल और बाकी चिड़ियों की आवाज बार-बार मानो यही कह रही थी कि जाना नहीं है क्या? सब कुछ के बावजूद मेरा मन अभी भी जाने के उत्साह को आलस्य में तब्दील किए जा रहा था। जैसे-तैसे विभागाध्यक्ष जी के निर्देशानुसार निर्धारित स्थान पर मैं पहुँच भी गई।

लगभग ढाई तीन घंटे के अंतराल पर अध्यक्ष सर के उड़न खटोले द्वारा हम सभी नेपाल यात्रा पर थे। उस सीमा रेखा पर जिसके एक ओर अपना देश था तो दूसरी ओर परदेश। मानचित्र में निर्धारित सीमाएँ, भौगोलिक क्षेत्रों को अलग कर सकतीं हैं परन्तु भावनाओं का क्या? वो तो अमूमन सभी जगह मूलभूत रूप से, थोड़े कम या ज्यादा अन्तर से समान ही होतीं हैं। पहली विदेश यात्रा की सीमा-रेखा मुझे रोमांचित कर रही थी, फिर क्या था, गाड़ी से उतर कर नेपाल बॉर्डर की तस्वीरें कैमरे के भीतर कैद कर लीं। चन्द सेकेण्ड में ही वहाँ तैनात महिला पुलिस ने मुझे एक सुझाव दे डाला कि जल्दी ही गाड़ी के अंदर हो लीजिए अन्यथा सेल्फी लेने के चक्कर में कहीं साबुन से काम लेना न पड़ जाए। दरअसल, बात यह थी कि जिस पेड़ के नीचे सीमारेखा का बोर्ड लगा था, उसके ऊपर रहने वाले तमाम पक्षियों के अपशिष्ट पदार्थ नीचे गिर सकने की प्रबल सम्भावना थी। परदेश में भी इस प्रकार की भली सलाह मिल सकती है, यकीन नहीं हो रहा था।

छोटी-सी समयावधि में ही जनकपुर धाम के विभिन्न देवालयों, सरोवरों इत्यादि के दर्शन कर लिए गए। परदेश में भी अपने देश की तरह धार्मिक आस्था को देखकर सुखद अनुभूति हुई। उनमें से एक देवालय, जिसके द्वार पर लिखा था, 'स्वर्ग का द्वार' न जाने क्यों उसे देख कर मन में अनेक प्रश्न कौंध रहे थे, क्या इस द्वार में प्रवेश करने मात्र से उसकी अलौकिक शक्ति द्वारा सचमुच ही स्वर्ग पहुँचा जा सकता है, तब नरक कौन जाना चाहेगा? स्वर्ग की जो शोभा अब तक कवियों, विद्वानों ने बखानी है, क्या वह सब कुछ वहाँ दिखाई पड़ेगी। भीतर प्रवेश करने पर उसकी व्यंजनात्मक व्याख्या सामने आई कि यह बाबा कालभैरव का मंदिर होने के साथ-साथ अंतिम क्रिया स्थल भी है, जिसके गूढ़ गंभीर अर्थ को मुख्यद्वार पर सटीक रूप से अंकित किया गया था। यह भी सुखद अनुभूति थी कि 'हिंदी भाषा' की शब्द-शक्तियाँ इतनी सशक्त रूप में यहाँ पर भी देखने को मिल जाएँगी।

'जनकपुर धाम' के निकट ही राम मंदिर की भी स्थापना की गई थी। जहाँ राम दरबार की शोभा पूर्ण विग्रह स्थापित थे। श्री राम की प्रतिमा के ठीक सामने हनुमान जी की प्रतिमा भी सुशोभित हो रही थी। यह मेरा छोटा-सा अनुभव रहा है कि स्वामी और सेवक के विग्रह परस्पर आमने-सामने ही होते हैं, फिर वह राम और हनुमान के हों अथवा शिव और नंदी के। करुणानिधान की कृपा अपने सेवक पर बनी रहे तथा सेवक प्रतिपल अपने स्वामी के दर्शन करते हुए उनकी सेवा में उपस्थित रह सके, संभवतः इसी मान्यता के कारण इस ढंग से प्रतिमाएँ स्थापित की जाती हैं। कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों प्रतिमाओं के बीच में उपस्थित हो जाना अनौचित्यपूर्ण तो नहीं। मंदिर की वास्तुकला ने तो चकित ही कर दिया, जब अध्यक्ष सर द्वारा यह ज्ञात हुआ कि यह सम्पूर्ण मंदिर एवं उसका परिसर काष्ठ निर्मित है। काष्ठ्य सामग्री से

बना वह भव्य मंदिर मानो अपनी प्राचीनता और रचनात्मकता को लेकर समय को चुनौती दे रहा था।

मंदिर का शांतिपूर्ण परिसर आस्था का केंद्र बिंदु तो था ही, पक्षियों के निमित्त दाने पानी का समुचित विशिष्ट प्रबंध इसे और अधिक प्रभावशाली बना रहा था। वास्तविक रूप में यदि देखा जाए तो सेवा ही सच्ची भक्ति है फिर वह आराध्य की हो या उनकी सृष्टि के जीवों की। धर्म के मूल मर्म तक करुणा और सेवा के रास्ते ही तो पहुँचा जा सकता है। 'परहित सरिस धर्म नहीं भाई' के कथन का यथार्थ रूप सामने खड़ा था। यहाँ आकर यह भी स्पष्ट हो गया कि मंदिर और भीड़ का सनातन सम्बन्ध है। जहाँ मंदिर होते हैं वहाँ आस्था का जनसैलाब होता ही है, आस्था की अजस्त्र अविरल प्रवाह नेपाल की भूमि पर भी देखना सुखद अनुभूति से कम नहीं था।

देवालय के बाहर का दृश्य भी अपने देश से कुछ भिन्न न था। अनेकानेक वंचित, असहाय जन वहाँ सहज रूप से देखे जा सकते हैं। जिन्हें देखकर मन विचलित हो उठा कि कोई इतना लाचार और विवश क्यों है? धार्मिक जन इसे उसके पूर्वजन्म के पाप कर्मों का दंड बता सकते हैं तो वहीं आधुनिक वैज्ञानिक, उनके शारीरिक विकारों को इसका उत्तरदायी ठहरा सकते थे। जो भी हो ऐसे असहाय जनों की मदद अवश्य की जानी चाहिए। संभवतः ऐसे विचारों ने ही मुझे एक दिव्यांग बाबा, जो कि अपने मुड़े पैर के कारण अपनी ट्राईसाइकिल पर चढ़ नहीं पा रहे थे, उनकी सेवा में स्व-प्रेरणा से प्रस्तुत कर दिया। यथोचित सहायता के उपरांत आगे की यात्रा आरंभ हुई।

कुछ ही समयांतराल पर हम सभी जनकपुर धाम आ गए। वहाँ की अद्‌भुत स्थापत्यकला, सजावट, नृत्यगान सब कुछ स्मृतिपटल पर अनायास अंकित होते जा रहे थे। उल्लास, उमंग के क्षण सीधे तौर पर व्यक्तिमन को प्रभावित करते ही हैं। फिर अवसर यदि सीता जी के जन्मोत्सव का हो तो ऐसा होना स्वाभाविक है। जानकी जी की एक झलक पाने के लिए अपार जन समूह उमड़ा पड़ा था। नृत्य की सूक्ष्म भंगिमाएँ और भक्तिपरक लोकगीतों के मधुर स्वर अनुगूंजित हो रहे थे। उमंग भरे वातावरण और भगवान् भास्कर की तपिश के बीच द्वन्द-युद्ध में जन्मोत्सव की हर्षित ध्वनियाँ विजय का शंखनाद कर रहीं थीं। सभी लोग मानो सम्पूर्ण स्थितियों-परिस्थितियों को भूल कर जनकनंदनी को अपने नेत्रों में बसा लेने की कोशिश में समर्पित हुए जा रहा थे। ऐसे भव्य सांस्कृतिक, आस्थामय आयोजन में मैं भी दर्शन-पूजन और प्रसाद अर्पण की कई कोशिशें कर चुकी थी। किन्तु जनकनंदनी की आधी-अधूरी छवि से ही संतोष करना पड़ा। प्रसाद अर्पण का कार्य अभी भी शेष था, जिसे स्नातकोत्तर के एक विद्यार्थी ने संपन्न किया। यात्रा के उपरान्त पता चला कि उसने एक ही प्रसाद को कई-कई बार चढ़ा दिया था, संभवतः यह उसकी भक्ति-भावना थी या फिर भीड़ का अतिरिक्त दबाव।

परिसर की एक विशेषता यह थी कि यहाँ पर देवी सीता तथा अन्य पौराणिक कथाओं से जुड़े महत्वपूर्ण प्रसंगों को विद्युत चालित संग्रहालय में मनोरम रूप से प्रस्तुत किया गया था।

जिन्हें देखकर तत्काल ही मुझे अपने शहर बनारस के मानस मंदिर का स्मरण हो आया, जो कि श्री सत्य नारायण तुलसी मानस मंदिर के नाम से प्रसिद्ध है। इतना ही नहीं देवी-देवताओं तथा अन्य पूजन सामग्रियों से सजी-धजी दुकानें भी अपने शहर का गहराई से स्मरण दिला रहीं थीं। शायद यह मानव का स्वाभाविक स्वभाव है कि जिस स्थान पर उसका आरम्भिक जीवन व्यतीत हुआ होता, है उसी को आधार बनाकर वह दुनिया को देखने का प्रयास करता है। दोनों की स्थितियाँ देखकर यही कहा जा सकता है कि देश अलग हैं, पर भावनाएँ तो एक हैं। संग्रहालय के प्राचीन अलंकरण, राजशाही पोशाकें, मुद्राएँ, चित्रकलाएँ तथा अन्य साजो सामानों की धुंधली जगमगाहट के सहारे अतीत वैभव की सैर की जा सकती थी। परन्तु इस प्रकार के संग्रहालय ऐतिहासिक गवाह से अधिक आर्थिक उपार्जन के ही केंद्र बनते जा रहे हैं, ये बड़े खेद का विषय है। फिर भी इन सबका संरक्षण इतना उत्तम था कि वे सब कुछ कई शताब्दियों के व्यतीत हो जाने के बाद भी अतीत की प्रमाणिकता को बखूबी आवाज देते सुने जा सकते थे। भावी पीढ़ी के लिए धर्म और इतिहास के पारस्परिक संबंधों की तलाश में ऐसे संग्रहालय निश्चित रूप से मददगार सिद्ध होंगें, इसमें कोई संदेह नहीं। मजेदार बात यह थी कि संग्रहालय के संकरें रास्ते में अत्यधिक भीड़ के कारण विद्यार्थी खोते मिलते रहे, परन्तु अंततः सभी बड़ी कुशलतापूर्वक एक जगह पर एकत्र भी हो गए। विद्यार्थियों का अनुशासन यहाँ पर देखते ही बनता था। पारस्परिक सहयोग और आत्मीयता की भावना ऐसी सामाजिक सांस्कृतिक यात्राओं में मिलना दुर्लभ ही है।

जीवन का सच्चा आनंद धरती पर खिल रहा था। जहाँ पर अमीर-गरीब, जाति-पाति, धर्म सम्प्रदाय का भेद तिरोहित चुका था। अलौकिक आनंद की सृष्टि झूमने को विवश कर रही थी। सामाजिक-सांस्कृतिक उच्च मूल्यों की सहज, सरल और आनंदपूर्ण व्याख्या ने जनकपुर धाम के जन्मोत्सव को अविस्मरणीय बना दिया। संयोग से उस दिन जानकी नवमी थी। 'घट' से उत्पन्न देवी 'सीता' के जन्मोत्सव का उल्लासपूर्वक आयोजन तो निःसंदेह बहुत सुंदर था। किन्तु एक स्थान पर आकर मन पीड़ा से भी भर उठा। जिन पात्रों में शीतल मधुर रस प्रसाद स्वरूप दर्शनार्थियों को दिया जा रहा था वे प्लास्टिक के थे और उनको उपयोग के पश्चात् यत्र-तत्र मंदिर परिसर में ही फेंक दिया जा रहा था, क्या ही अच्छा होता कि घट से उत्पन्न देवी सीता के जन्मोत्सव में मिट्टी से निर्मित पात्रों में प्रसाद वितरित किया जाता और उन्हें एकत्र कर पुनः मिट्टी में दबा दिया जाता। उसी स्थल पर देवी के जन्मोत्सव वर्ष के प्रतीक स्वरुप किसी वृक्ष को रोप दिया जाता, जो कि उस आयोजन का स्मृति चिह्न बन कर खड़ा रहता। वैसे भी भारतीय संस्कृति में मिट्टी से बढ़कर शायद ही किसी और पदार्थ को शुद्ध पदार्थ की श्रेणी में रखा गया है। इस जीवन का पार्थिव शरीर तो अंततः मिट्टी में ही मिल जाना है। शिवमंगल सिंह सुमन, मिट्टी की महिमा का जिक्र करते हुए कहते हैं कि -

''निर्मम कुम्हार की थापी से, कितने रूपों में कुटी-पिटी
हर बार बिखेरी गई किन्तु, मिट्टी फिर भी तो नहीं मिटी।''

डिजिटल दौर में अपनी संस्कृति के मूल्यवान तत्वों को खोकर सुविधाजनक आधुनिक तत्वों को आत्मसात करते चले जाना कहाँ तक उचित होगा, यह विचारणीय और चिंतनीय दोनों है। किसी विद्वान ने उचित ही कहा है कि-

''अपनी संस्कृति से जितना भागोगे, उतना ही खुद को संकट में पाओगे।''

'जनकपुर धाम' से निकल कर पुनः गाड़ियों की ओर जाना भी यात्रा का अविस्मरणीय हिस्सा बन गया। दरअसल, वापसी में एक शोधार्थी की चप्पलें चोरी हो गईं। दुःख इस बात का था कि जिस मंदिर में आत्मिक शांति की तलाश में गए थे, वह चप्पलें चोरी होने के रूप में अपहरित हो गई थीं और सांत्वना की बात यह थी कि मंदिर से चप्पलें चोरी गई हैं, आने वाली विपत्ति सम्बंधित व्यक्ति की टल जाएँगी। इसे अन्धविश्वास कहें या आस्था। इस मान्यता की सच्चाई का बहुत सटीक आकलन तो नहीं किया जा सकता किन्तु आस्थावान लोगों की विश्वास शक्ति प्रबल ही कही जाएगी क्योंकि इस विश्वास से पीड़ित व्यक्ति को मानसिक संबल जरूर मिलता है। यहाँ महात्मा बुद्ध का मध्यम मार्ग प्रकारांतर से प्रेरणा देता नजर आता है कि विज्ञान और तकनीकी युग में भी हमें बहुत से लोक विश्वासों को स्वीकार कर लेना चाहिए क्योंकि परम्परा और संस्कृति से पूरी तरह कट कर रहना जीवन को शुष्क बना लेना होगा। हाँ, अतार्किक मान्यताओं के बीज जीवन में प्रस्फुटित न हो सकें, इसके लिए भी सचेत रहना होगा। जिससे अंधविश्वासों और चमत्कारों के जाल में उलझने से बचा जा सके। गहराई में यदि देखा जाए तो कहा जा सकता है कि भौतिक और आध्यात्मिक स्थितियाँ व्यक्ति मन और उसके विवेक पर भी निर्भर करती हैं कि कब उसे तार्किक होना है और कब उसे आध्यात्मिक।

धार्मिक विश्वासों की एक रोचक कड़ी यह भी रही कि वापसी में गाड़ियों के ड्राईवर अपनी निर्धारित जगहों पर नहीं थे। विदेश में मोबाईल कंपनियों के बदले नेटवर्क के कारण उनसे संपर्क हो पाना भी कठिन था। उमस से भरे वातावरण में शीतल जल और भोज्य पदार्थों की ओर दौड़ भाग आरंभ थी। सभी के लम्बे इंतजार के बाद गाड़ियों के ड्राईवर अपने-अपने धार्मिक कर्मों को करने के उपरान्त वापस ले जाने के लिए उपस्थित हुए। घटना छोटी-सी ही थी लेकिन पते की थी। विदेश यात्रा से पूर्व वहाँ की सामान्य जानकारी मसलन-भाषा, बोली, खानपान, मुद्रा, मौसम आदि के विषय में पड़ताल कर लेनी चाहिए। प्रथम विदेश यात्रा का यह अनुभव निःसंदेह रूप से मेरी अगली यात्राओं में पथ प्रदर्शक का कार्य करेगा।

दिन अपनी ढ़लान पर था। गाड़ी तीव्र गति से स्वदेश की ओर बढ़ी जा रही थी। आँखें कुछ उनींदी-सी थीं। स्वदेश की सीमा रेखा में प्रवेश करते ही यह ज्ञात हुआ कि कुछ ही दूरी पर 'राजनगर' के किले को भी देख लेना चाहिए। दिन के ढ़लान पर नयी जगह जाना, यह बात मेरे अंतर्मन को व्यथित किए हुए थी, परन्तु राजनगर भी अपनी ओर खींच रहा था। दोनों विचारों में से दूसरा अधिक प्रबल रहा और हम सभी कुछ देर में राजनगर आ गए।

राजनगर 'दरभंगा' से लगभग 40 किलोमीटर दूर मधुबनी जिले के निकट स्थित है। अपने नाम के अनुकूल राजनगर सचमुच राजनगर ही था। विशालकाएँ महल, भव्य मंदिर, हरे भरे पेड़ों का विशाल जंगल, सब कुछ बचपन में सुनी राजा-रानी के महलों की कहानियों का स्मरण दिला रहे थे। यद्यपि राजनगर में अवशेष ही शेष हैं, लेकिन उन अवशेषों में भी वैभवशाली साम्राज्य की उजली तस्वीरों की कल्पना सहज ही की जा सकती थी। देवी कामख्या के मंदिर की छत पर उकेरी गई सूक्ष्म कलाकृतियों ने तो अपने निर्माण कौशल से स्तब्ध ही कर दिया, बिना किसी अत्याधुनिक संसाधनों के मनमोहक भित्ति चित्र किस प्रकार निर्मित हुए होंगे, यह आश्चर्य का विषय था। सायंकालीन मधुर वातावरण के बीच आरती आरम्भ हुई, उसके चिर-परिचित स्वरों ने समस्त थकान को तिरोहित कर स्वर्गिक आनंद में डुबो दिया। दिव्य आनंद की प्राप्ति की स्मृति को छोटी बालिका पीहू ने अपने सधे हाथों से कैमरे में संचित करते हुए यह स्पष्ट कर दिया कि प्रतिभा आयु की मोहताज नहीं होती।

मंदिर में प्रतिष्ठित देवीय शक्तियाँ सभी का कल्याण करती हैं, उनकी रक्षा करती हैं, ऐसा मेरा हमेशा से विश्वास रहा है। मंदिर प्रांगण में काष्ठ और लौह मिश्रित एक यंत्र दिखा, जिस पर शुष्क रक्त-अवशेषों ने मेरे कदमों को वही रोक दिया। मन जिज्ञासु हो उठा। कुछ लोगों से ज्ञात हुआ कि ये यंत्र बलि के लिए है। यह बात दुःख मिश्रित आश्चर्य में डाल देने वाली थी। सभी जीवों पर करुणा, दया, ममता का सागर लुटाने वाले देवगणों के निमित्त ऐसा कर्म भला कैसे किया जा सकता है? शायद ही कोई देवी-देवता किसी निर्दोष प्राणी के प्राण लेकर प्रसन्न होते होंगे। यह कैसी आस्था है? कैसी मान्यताएँ हैं? कैसी परम्पराएँ हैं? एक ओर हमारे ही देश में क्रौंच पक्षी के वध से आहत वाल्मीकि की आह से सम्पूर्ण मंडल द्रवित हो उठता है तो वही दूसरी ओर कबीर जैसा प्रखर विचारक 'दिन भर रोजा धरत हो, राति हनत हो गाय' की फटकार लगा जाता है। यही नहीं, शाही राजघराने के राजकुमार सिद्धार्थ स्वयं घायल हंस की प्राण रक्षा करते हैं। तमाम प्रतिबंधों के बावजूद आजतक इस प्रकार की कुप्रथा का अनवरत जारी रहना विचारणीय है। संभवतः हम ये भूल गए हैं कि ईश्वर ने हमें प्राण लेने के लिए नहीं वरन प्राण बचाने के निमित्त ही धरती पर भेजा है।

यात्रा का अंतिम पड़ाव राजा का मडवा था। अपने जीर्ण-शीर्ण अस्तित्व में भी अतीत की चकाचौंध बिखेर रहा था। अध्यक्ष जी, विशेषतौर पर सभी को उसका ऐतिहासिक महत्व बता रहे थे, लेकिन मुझे फराह खान की फिल्म 'ओम शांति ओम' के उस भव्य सेट का स्मरण हो आया। मुझे उस सेट की परिकल्पना का आधार यही राजा का मडवा ही प्रतीत हो रहा था। जिसमें फिल्म की नायिका को ऐसे ही सेट पर जलाकर मार डाला गया था। राजा का मडवा के विहंगम दृश्य उस फिल्म के सेट से कैसे स्वतः जुड़ गया, यह मुझे भी ज्ञात नहीं हो सका। सम्भवतः अचेतन मस्तिष्क में बस चुके बिम्ब का ही प्रभाव था कि जब वह राजा के मडवा के रूप में सामने आया तब पूर्व में देखा गया दृश्यात्मक बिम्ब अनायास पुनर्जीवित हो उठा। मनोविज्ञान में शायद इस पूर्व

तथा पश्य बिम्बों के परस्पर संयोजन के लिए कोई सटीक नाम हो, परन्तु यहाँ उस पर अधिक विचार करना यात्रा के मधुर अनुभवों को विशृंखलित ही करना होगा।

संध्या की लालिमा और रात्रि की कालिमा के बीच द्वन्द की स्थिति थी। राजनगर के सुरम्य ऐतिहासिक परिसरों का भ्रमण एवं मोबाईल द्वारा स्मृति-संकलनो का क्रम जारी था। अब तक नींद और भूख के बीच होड़ शुरू हो चुकी थी। रेस्टुरेंट की तलाश जारी थी। उसका भी शानदार अनुभव रहा। लगभग सवा घंटे के इंतजार के बाद सीमित भोज्य पदार्थों के साथ एक व्यक्ति की 'वन मैन आर्मी' की स्थिति देखते ही बनती थी। ऑर्डर लेने से लेकर भोजन बनाने फिर परोसने तक की बड़ी जिम्मेदारी को शांत भाव से निभाना आसन कार्य नहीं था। उसकी कार्य निष्ठा का आकलन उसकी शर्ट पर उतर रहे पसीने की रफ्तार से लगाया जा सकता था। अपनी कार्यशैली से वह यह स्पष्ट घोषित कर रहा था कि जीवन संघर्ष में अकेलापन और अधिक दृढ़ता प्रदान करता है।

रात्रि के लगभग साढ़े नौ हुए थे। वाहनों से यात्रियों की संख्या कम होती जा रही थी। अंततः मुझे भी घर के निकट उतार दिया गया, अगले दिन के लिए। यात्रा सकुशल संपन्न हो चुकी थी। अवकाश के दिन जनकपुर धाम यात्रा करने की मेरी जो पूर्व में आलस्य भरी मनोदशा थी वह अब उसी यात्रा की तस्वीरों को देखते हुए दिन की सार्थकता का अनुभव कर रही थी।

सन्दर्भ :-

1. मिट्टी की महिमा, शिव मंगल सिंह सुमन (द्वारा इंटरनेट)
2. द्वारा इन्टरनेट

डॉ० मंजरी खरे, सहायक प्राचार्य (हिंदी), संस्थान-ललित नारायण मिथिला विश्विद्यालय
शहर-दरभंगा, बिहार, मो. : 9451099061, ई-मेल : manjarikhr@gmail.com

आयुष्यः जीवन में आस्था और सत्य का अन्वेषण

डॉ. करुणा पीटर 'कमल'

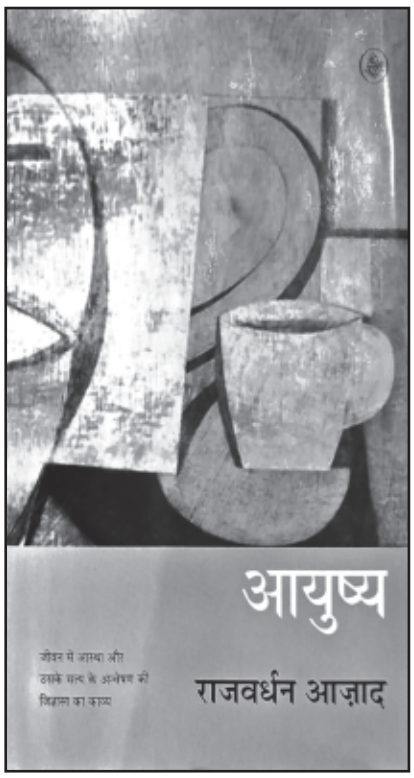

पुस्तक - आयुष्य
संपादक - राजवर्धन आजाद
प्रकाशक - राजकमल प्रकाशन
मूल्य - 795/-

प्रख्यात नेत्र रोग विशेषज्ञ और कवि डॉ. राजवर्धन आजाद जी की 'आयुष्य' महाकाव्यात्मक रचना है। जैसा कि इसके आवरण पृष्ठ पर लिखा है- 'जीवन में आस्था और उसके सत्य के अन्वेषण की जिज्ञासा का काव्य'। इस रूप में यह एक अन्वेषणात्मक प्रबंध काव्य है। इस प्रबंध काव्य में आद्यांत विचारों की निर्मल धारा प्रवाहित हो रही है। इसमें रचनाकार ने मानव जीवन के हर पहलू, पड़ाव जन्म से लेकर जीवन के ढलान, उसके अवसान पर दृष्टिपात किया है। यह कृति संपूर्ण मानव जीवन का चित्रपट प्रतीत होती है। जीवन के सृजन से लेकर जीवन के राह में एक-एक पग आगे बढ़ने की प्रक्रिया को कवि ने आयुष्य में अन्वेषणात्मक दृष्टि प्रदान किया हैं। कवि ने जीवन चक्र का बारीकी से अध्ययन किया है और उसके प्रत्येक पहलू पर सूक्ष्म दृष्टि रखी है। यह पुस्तक रचनाकार के स्वानुभूति का सृजन है। उन्होंने 'अपनी बात' में लिखा है- 'आयुष्य जीवन है। जिसको हमने जिया है, महसूस किया है, खेला है, कूदा है और उससे भी अधिक अपने माता-पिता की भाषा को समझा है। साथ ही उनको अपने जीवन में उतारने की कोशिश की है। 'आयुष्य' हमारे शैशवकाल से वानप्रस्थ की कहानी है.....।'

डॉ. राजवर्धन जी एक चिकित्सक होते हुए भी साहित्य सृजन के प्रति समर्पित

हैं। वास्तव में उनको साहित्य प्रेम विरासत में मिली है। इनके पिता श्री भागवत झा आजाद एक ओजस्वी कवि थे, जिसके प्रभाव से चिकित्सक पुत्र को भी माता सरस्वती की कृपा प्राप्त हुई। डॉ. राजवर्धन जी का कहानी-संग्रह 'सोने का हाथ' साहित्य जगत में एक बहुचर्चित कृति है। इनका प्रबंध काव्य 'आयुष्य' जीवन गाथा को प्रस्तुत करता है। मानव जीवन पर आधृत इनकी यह कृति आठ सर्गों में विभाजित है, जिसमें क्रमशः निर्माण, परिमार्जन, किशोरावस्था, गृहावस्था, वानप्रस्थ, आत्मा और संन्यास, धर्म और शांति, अवसान/उपसंहार है। इस प्रबंध काव्य का प्रत्येक सर्ग मानव के बाहरी और आंतरिक जीवन को सूक्ष्मता से दर्शाता है। इस काव्य में कवि ने एक दार्शनिक की भाँति अपने विचारों को शब्दों की माला में पिरोया है। उन्होंने मानव जीवन के विभिन्न पड़ावों पर गहनता से विचार करते हुए हमारी मौजूदगी को अभिप्रेत किया है। कवि ने बचपन के सौंदर्य, यौवनावस्था की चुनौतियों, प्रौढ़ावस्था की गंभीरता और वृद्धावस्था की शिथिलता को विराट फलक प्रदान किया है। यह कृति कवि के स्वानुभूति पर आधारित है। कवि का मानना है कि आज हमारी सभ्यता इतनी विकसित हो गई, जहाँ मनुष्य के जीवन का शायद कोई मोल नहीं है। सब कुछ एक क्रम, एक लय में बहते हुए विशद विश्व प्रवाह में विलीन हो जाती है। जीवन के अंतिम पड़ाव में मनुष्य अनायास ही अपने जीवन के उद्धेश्य और उसकी प्राप्ति पर चिंतन करने लगता है। वह जीवन प्रयोजन के प्रति खोजी दृष्टिकोण अपनाने लगता है।

राजवर्धन जी के इस प्रबंध काव्य के संबंध में प्रो. रामवचन राय लिखते हैं- '' 'आयुष्य' का कवि एक दार्शनिक की भाँति जीवन के अलग-अलग पड़ावों पर विचार करता है तथा प्रकृति और परिस्थिति से सामंजस्य बैठाते हुए अन्तिम परिणति तक उस शाश्वत सत्य के अनुसंधान का प्रयत्न जारी रखता है। अतः एक-दूसरे धरातल पर उसकी काव्य-यात्रा समानातंर गति से अलौकिक आध्यात्मिक यात्रा भी है। प्रमुख रूप से भारतीय संस्कृति में और कुछ हद तक दुनिया की अन्य संस्कृतियों में भी मनीषियों और दार्शनिकों की यह यात्रा सदियों से चल रही है। अंग्रेजी के प्रख्यात आलोचक मैथ्यू अर्नाल्ड ने तो यहाँ तक कहा है कि धर्मों की दीर्धजीविता का मूल कारण उनके अवचेतन में स्थित कविता ही होती है। डॉ. आजाद की यह काव्य कृति उस अविराम यात्रा का आख्यान है। किन्तु इसका निष्कर्ष है कि जिसके अन्वेषण के लिए यह यात्रा शुरू हुई, उसका उत्तर अब तक नहीं मिला है। इसलिए आगे भी यह खोज निरंतर जारी रहेगा।''

'आयुष्य' प्रबंध काव्य संपूर्ण जीवन को चलचित्र की भांति हमारे सामने क्रमवार प्रस्तुत करता है। रचनाकार ने जीवन और मरण के संपूर्ण घटनाक्रम को जीवन दर्शन के साथ-साथ वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी प्रदान किया है। कवि यह मानते हैं कि जीवन अंकुरित होते ही मनुष्य के अंर्ततम में आशा, उत्साह, कौतुहल और जीवन के सपने सजने लगते हैं। माता-पिता वात्सल्य सुख का आनंद लेते हुए बच्चे को जीवन के लिए तैयार करते हैं। इसी के साथ मानव जीवन के संघर्ष की शुरूआत भी हो जाती है। कवि बड़ी सरलता से कहते हैं कि सभी की किस्मत एक समान नहीं होती कि संसार के सारे सुख-साधन समरूप से सबको प्राप्त हो किन्तु यह मनुष्य के विकास और सफलता के मार्ग में आडे नहीं आती, जो दृढ़-संकल्पी होते हैं, पर्वत भी उनके हौसले

को पस्त नहीं कर पाते, वे अपनी मंजिल पा ही लेते हैं।

'जिनके पास साधन नहीं होता,
आवागमन का माध्यम नहीं होता।
जिनके पास इच्छाशक्ति होती,
उनके कदम सफलताएँ चूमतीं।'

साहित्य मानव जीवन का प्रतिबिंब है। वह मानव जीवन के सुख-दुख, सफलता-असफलता, आशा-निराशा, जीवन के संघर्षों को संवेदनशीलता के साथ चित्रित करता है। इसके माध्यम से हम मानव जीवन के सत्य, सामाजिक मूल्यों, मनुष्य के अस्तित्व को समझ पाते हैं। किशोरावस्था में मनुष्य में शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक विकास होता है। वह एक नई दुनिया में कदम रखता है, जहाँ माता-पिता के अलावे सामाजिक संबंधों की सीमाएँ विकसित होने लगती है। मानव व्यक्तित्व का निर्माण होने लगता है। बचपन में माता-पिता के द्वारा जिन पारिवारिक संस्कारों का बीजारोपण किया जाता है, वे आकार लेने लगते हैं। संस्कारों की जड़ जितनी मजबूत होती है, उतना ही स्वस्थ समाज का निर्माण होता है। मनुष्य शीलगुण से परिपूर्ण हो, तो एक सुदृढ़ आकार प्राप्त करता है और अपने जीवन को सार्थक बनाता है। अपने जीवन की चुनौतियों से रू-ब-रू होता है। अनेक प्रभंजन का सामना करता और अपने चरित्र का निर्माण करता है। 'तथागत होते शाक्यमुनी बुद्ध सा, सम्प्रति काल के अनुकूल शुद्ध-सा। इंगित करता संस्कार परिवार का, चित्रित होता व्यवहार समाज का।' कवि कितनी सहजता से इन पंक्तियों में इन विचारों को सहेजने में सफल हुए हैं। परिवर्तन के इस दौर में कई उतार-चढ़ाव आते हैं, जिनकी नींव भूमिगत मजबूत होती है, वे जीवन पथ पर स्थिरता से आगे बढते हैं और जीवन समर में पाँव जमाते हैं। 'भौंरे जैसे फूलों के ऊपर गाते नाचते, युवा आज के लिप्यंतरण को भाते।' कहकर कवि ने युवा मानसिकता को दर्शाया है जहाँ युवा यांत्रिकी और सूचना प्रौद्योगिकी से प्रभावित होकर अपने कामों को आसान बनाने में सक्षम हैं किन्तु इस विकास क्रम में उनकी सोचने-समझने की क्षमता प्रभावित होती है।

मनुष्य का संपूर्ण जीवन जन्म और मरण के बीच का समय होता है, जो एक अनिश्चित अवधि में बद्ध होता है। इस बीच वह जीवन के विभिन्न पड़ावों से रहस्यात्मक रूप से गुजरता है। एक साहित्यकार जीवन और समाज को अत्यंत गहनता और गंभीरता से देखता-परखता है। प्रस्तुत पुस्तक में डॉ. राजवर्धन जी ने जीवन की इन्हीं अनुभूतियों को संजोया है। जीवन एक उपवन की तरह होता है, जहाँ रंग-बिरंगे फूल, शूल और खट्टे-मीठे फल लगते हैं। हम आकर्षक फूल और मीठे फल को अपने अंदर सहजने का प्रयास करते हैं तथा खट्टे फल व शूल को भूल जाने की कोशिश करते हैं। ये फूल और काँटे जीवन के सुख-दुःख हैं। एक परिवार को इनसे गुजरना पड़ता है। परिवार निर्माण में मनुष्य की चुनौतियाँ और भी प्रबल हो जाती है। उन्हें हर कदम पर छोटे-बड़े रोडों का सामना करना पड़ता है। कवि कहते हैं-

'संघर्षों के इस कठिन दौर में,
नायक जमीन पर पाँव रखता।
कंकड़, पत्थर, काँटों पर चलकर,
गिरता, उठता और फिसलता।
परिश्रम जब जम्हाई लेती,
गृहस्थाश्रम में कठिनाई दिखती।'

कवि ने चतुर्थ सर्ग में गृहस्थाश्रम में आने वाली कठिनाइयों और उसे सुखद, सफल बनाने वाले तत्वों का व्यावहारिक विवेचन किया है। जीवन के इस पड़ाव में मनुष्य बड़ी चतुराई और विवेक से जीवन के अगले अध्याय की रचना करता है। इस सर्ग में रचनाकार के मन में स्त्रियों के प्रति, भारतीय संस्कारों के प्रति, विवाह संस्कार के प्रति गहरी संवेदनशीलता, सम्मान और श्रेष्ठता का भाव लक्षित हुआ है। कवि का मानना है कि जीवन के इस पड़ाव पर धार्मिक चेतना प्रबल होती है। एक तरफ तो मनुष्य का विकास होता है, वहीं दूसरी ओर स्त्री वासना की शिकार होती है, नैतिकता का ह्रास होता है, भ्रष्टाचार के प्रवाह में योग्यता कराहने लगती है, मानवता का विनाश होता है। 'मनुष्य के पतन और समाज के व्यसन का, अन्यत्र दुर्लभ अनाचार के अनुसरण का।... गृहस्थ जीवन सभी में श्रेष्ठ है... पारिवारिक इकाई के दायित्व वहन से, निष्ठा, चेष्टा, संचित सफल कर्म तक।' इस प्रकार कवि हर परिपेक्ष्य से चिंतन करते हुए एक सुसंस्कृत, सुयोग्य, सुसंगठित गृहस्थ जीवन के निर्माण का आह्वान करते और गृहस्थ जीवन की श्रेष्ठता के पक्षधर प्रतीत होते हैं।

गृहस्थाश्रम में मनुष्य के कई सपने होते हैं, जीवन का लक्ष्य होता है, पारिवारिक जिम्मेदारियाँ होती है। उम्र के इस पड़ाव पर मनुष्य हर तरह की परिस्थितियों से गुजरकर अनुभवी हो जाता है। जीवन रूपी भट्टी में तपकर कंचन बन जाता है। उसकी आँखों में बच्चों के भविष्यों को संवारने के सपने पलने लगते हैं। परिवार को सुरक्षित करने और अपने सपनों को पूर्णता प्रदान करने का जुनून होता है। ऐसे समय में जीवन कई परीक्षाओं को लेकर उसके सम्मुख खड़ा होता है। सम-विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। इस अवस्था में उसकी नैतिकता की रक्षा उसके बचपन में डाले गए संस्कार और पारिवारिक बंधन से होती है, जो उसे अपनी नीतियों और संस्कार पर अडिग बनाए रखती है। इस अवस्था में मनुष्य अपने जीवन का आकलन करता है, आत्म मंथन करता है। एक तरफ उसे अपने बच्चों की उपलब्धियों पर गौरवांवित होने का अवसर मिलता है, तो दूसरी तरफ अपने माता-पिता के प्रति अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह कर उनके आशीर्वाद पाने का सहज अवसर प्राप्त होता है। इस अवस्था में मनुष्य अपने कर्मों का फल पाता है। कहते हैं- मनुष्य जो बोता है वही काटता हैं। कबीरदास जी पंक्ति याद आती है कि करता था सो क्यों किया, अब कर क्यों पछिताय। बोया पेड़ बबूल का, तो आम कहाँ से खाय।। यदि हम अपने परिवार की नींव संस्कारों से मजबूत करते हैं, एक सुसंस्कृत परिवार का गठन करते हैं तो निश्चय ही उसका सुफल हमें प्राप्त होता है। काव्य के पंचम सर्ग में

रचनाकार कई जगह रूढिवादिता, बदलते परिवेश से कराहते नजर आते हैं। धर्मांधता और लिंग भेदभाव को कवि समाज के विकास के लिए अहितकर समझते हैं। जब कवि आधुनिकता के चकाचौंध में अथवा विकास की आड में परिवार को टूटते देखते हैं तो सायास ही वे कह उठते हैं- 'इस युग के आगमन के बाद, एकल परिवार की संरचना के साथ। आचार विचार की संस्था बदलती, भावनाओं के अभाव में स्नेह मचलती।'

जीवन के ढलान पर मनुष्य अपने जीवन के हरेक भाग पर दृष्टिपात करता है। जीवन में घटित प्रत्येक घटना का अवलोकन करता है। वह इस अवस्था में अपनी जिम्मेदारियों को निभाते-निभाते थकने लगता है। उसके जीवन गति में शिथिलता आने लगती है और तब माया-मोह से विलग होकर जीवन जीने की कोशिश करने लगता है। वह अपने जीवन का उद्धेश्य और सार की तलाश करने लगता है कि क्या मैंने अपने जीवन को सार्थक किया। अमूर्त चिंतन से मनुष्य को आत्म बोध होता है और वह स्वयं को पहचानने लगता है। मृत्यु की ओर अग्रसर तन-मन अध्यात्म की ओर उन्मुख होता है। वह लौकिकता को त्यागकर अलौकिकता की खोज में निकल पड़ता है। अपने को सुविचार और परोपकार की भावना से संपोषित करता है। 'द्वेष, क्लेश नहीं, केवल चिन्तन, ईश्वर के घर उनका कानन नन्दन।' रचनाकार की यह पंक्ति यह स्पष्ट करती है कि मनुष्य हर विकार से दूर स्व में सद्‌गुणों को समाहित कर धर्म-कर्म में लग जाते हैं। आत्मा और सन्यास के गहन विश्लेषण में डॉ. राजवर्धन जी के दार्शनिकता का बोध होता है। जब वे कहते हैं 'आत्मा आयुर्वेद है शरीर कफपित्त, वायु है, आत्मा धनवंतरी है शरीर आधि व्याधि है।' तो उनकी कृति में एक कवि के साथ-साथ एक चिकित्सक की भी झलक मिलती है।

'आयुष्य' के सर्जक के मन में जीवन के रहस्य को जानने-समझने की उत्कटता हैं। उनके सामने अनेकानेक प्रश्न हैं, जिसका हल कवि तलाशने की कोशिश करते हैं, गहन चिंतन करते हैं, आत्ममंथन करते है। परिणामतः वे जीवन दर्शन को समझ पाते हैं। जीवन की अपनी गति, रीति होती है। वह अपने नियम और लय में बद्ध है। किसी भी परिस्थिति में ईश्वर के विधान और जीवन के नियम में परिवर्तन नहीं होता है। यह एक सुनिश्चित यथार्थ है, जिसकी प्रत्येक घटना का घटित होना सुनिश्चित है। कवि ने धर्म, विधाता से जुड़े हुए कई गाठों को अपने काव्य में खोला है।

'स्त्रोत एक है नाम अलग-अलग हैं,
आपस में बैर यह इनसान की उपज है।
एक ही है सब, सीख भी एक है,
फर्क है सोच में, क्योंकि शरीर अनेक हैं।'

कवि की इस पंक्ति को पढ़कर अनायास ही स्वामी विवेकानंद के शिकागो धर्मसंसद में 1893 में दिए गए भाषण का यह अंश स्मरण हो आया कि जिस प्रकार अलग-अलग नदियाँ अलग-अलग रास्तों से समुद्र में मिलती हैं, उसी तरह मनुष्य के विभिन्न मार्ग भी अंत में एक ही लक्ष्य, ईश्वर तक पहुँचते हैं।

भारतीय साहित्य का भक्तिकाल जीवन से जुड़ा हुआ साहित्य है, इसमें सायास अनायास जीवन और मृत्यु की दार्शनिक अवधारणा देखी जा सकती है। जीवन क्षणभंगुर और अनुमानित है। इसे ध्यान में रखते हुए हमें माया-मोह, दुर्भावना, बैर भाव एवं दुर्गुणों से दूर रहने का प्रयास करना चाहिए। जीवन के आरंभ के दिन से ही मृत्यु निश्चित हो जाती है। वृक्ष पर नए पल्लव आने के साथ ही उसके झरने की नियति लिखी जा चुकी होती है। जीवन और मरण के चक्र तो सोने और जागने की प्रक्रिया की तरह है, तो फिर क्यों हम चिंतित होते हैं। संत कवि रैदास कहते हैं कि जन्म और मृत्यु तो ईश्वर का विधान है फिर क्यों जन्म पर हर्षित हों और मृत्यु पर शोक मनाएँ। जीवन की इस कड़वी सच्चाई को स्वीकार करना चाहिए कि जिसने जन्म लिया है उसकी मृत्यु सुनिश्चित है। कवि लिखते हैं-

''जीवन का सत्य है अन्त अवश्यम्भावी है,
कालचक्र के रथ से देता परिणाम दिखलाई है।
स्पष्ट है, मंजिल है, क्षितिज के पार है,
जाना सबको वहाँ है जो स्थायी घर द्वार है।''
'शरीर मनुष्य का अणु स्वरूप होता,
विद्युत आत्मा का ही एक अनुरूप होता।
नाभि शक्ति, विद्युत अणु, मानव संरचना करते,
आत्मा सम विद्युत अणु, शरीर से मुक्त हो जाते।'

रचनाकार की इन पंक्तियों में उसकी चिकित्सकीय विवेचना लक्षित होती है।

समग्रतः यह एक अनुपम काव्य कृति है। कवि की भाषा बोझिल न होकर अत्यंत सरल, सहज, संप्रेषणीय, प्रवाहमयी और सुग्राह्य है। रचनाकार ने जीवन के विभिन्न पड़ावों का अत्यंत व्यावहारिक चित्रण प्रस्तुत किया है। पाठक पुस्तक को पढ़ते हुए स्वयं को जीवन के उन पड़ावों के साथ जोड़कर देखने लगता है, जिससे यह पुस्तक एक विचारात्मक प्रबंध काव्य होने के बावजूद रोचक और रुचिकर लगती है। राजवर्धन जी की खासियत है कि वे एक चिकित्सक होते हुए भी मनुष्य की मनःस्थिति और उनकी भावनाओं को महसूस करते हुए मानव जीवन का आद्योपांत व्यावहारिक चित्रण प्रस्तुत करने में पूर्णतः सफल हुए हैं।

अंततः मैं इस प्रबंध काव्य के लिए डॉ. राजवर्धन आजाद जी को अनंत बधाई और शुभकामनाएँ देती हूँ और कामना करती हूँ कि इस काव्य को साहित्य जगत में लोकप्रियता के साथ उचित स्थान प्राप्त हो और सुधी पाठक इसे उदारतापूर्वक स्वीकार करेंगे।

डॉ. करुणा पीटर 'कमल', शिक्षिका, डॉन बॉस्को एकाडमी, पटना
मो. : 9546138889, ई-मेल : karuna.kamal2015@gmail.com

✧ ✧ ✧

भारतीय संस्कृति और हिन्दी

डॉ. अर्चना त्रिपाठी

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की स्थापना के बाद जब गुजरात में हिंदी प्रचार की व्यवस्था की बात हुई तो गाँधी जी ने काका साहब जी को ही चुना क्योंकि वे बहुत ही जिम्मेदारी से ऐसे कार्य पूरा करते। अतः इनके योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता। इनकी चर्चा के बिना हिंदी विकास की बात पूरी नहीं हो सकती है। हिंदी के प्रति इनके गहरा प्रेम का ही परिचायक है कि गैर हिंदीभाषी होकर भी इन्होंने हिंदी साहित्य में अपना उच्च नाम किया। ''30 से अधिक पुस्तकों की रचना की। यात्रा वृत्रांत संस्मरणात्मक निबंध तथा लोकजीवन के अनुभवों पर आधारित लेखन इनका आनंद का विषय था। काकाजी उच्च कोटि के विचारक के साथ विद्वान लेखक की श्रेणी में आते हैं।'' इन्होंने सरल तथा ओजस्वी भाषा में विचारपूर्ण निबंध लिखें। दक्षिण प्रांत में हिंदी के प्रति अनुराग दिनों दिन बढ़ता ही जा रहा है, बहुत से लेखक हिंदी में अपनी गहरी पैठ बना चुके हैं।

हिंदी सिर्फ भारत की भाषा नहीं, वह विश्व में भी अपना स्थान बना चुकी है। इसने अपना स्थान बनाने में अलग-अलग रूपों में अपने को प्रतिष्ठित किया। साहित्य में तो शुरु से ही इसका शीर्षस्थ स्थान था। हिन्दी विदेशों में फिल्मों, उसके गीतों तथा नाटक के माध्यम से विकसित हुई है। किसी भी भाषा या बोली के लोग क्यों ना हो; हिंदी के बिना उनका काम पूर्ण नहीं होता। भले ही उनकी हिंदी व्याकरण सम्मत या परिमार्जित ना हो, लिंग दोष बोलने में आए, उच्चारण दोष हो। हिंदी के प्रति एक आकर्षण ही है, जिसने सबको इससे जोड़ा। हिंदी को व्याकरण सम्मत व परिमार्जित करने का सारा श्रेय आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी को जाता है, इन्होंने कठोर भाषा अनुशासन का पालन किया। आज हिंदी सिर्फ भारत की भाषा नहीं बल्कि विश्व में भी अपना परचम लहरा रही है। कुछ पंक्तियों में व्यक्त करूँ, तो हिंदी स्वयं को कहती है----

''मैं हिंदी हूँ, हिंद कि नहीं, समस्त विश्व की हिंदी हूँ।

वर्चस्व है मेरा, मेरी अपनी अद्‌भुत पहचान है।

न मैं हीन हूँ, न उपेक्षित हूँ, सभी के लिए अपेक्षित हूँ
मेरा ज्ञान सहज सरल है, शिक्षितों की शालीनता हूँ
संस्कारवान सुसंस्कृत हूँ, मेरी सुचिता का सम्मान करो
हिंदी का आह्वान करो, निःसृत हूँ संस्कृत गर्भ से
ईर्ष्या नहीं अन्य भाषा से, स्वर व्यंजन से सुगढ़ सज हूँ
कथा गीत गजल नज़्मों में ढली हूँ
मैं हिंद की हिंदी हूँ समस्त विश्व की हिंदी हूँ
मुझ पर करो सदा अभिमान, देश का ऊँचा होगा मान
हनन करती अज्ञानता का, लहराते सब विजय पताका
मेरा ज्ञान बना स्वाभिमान, नहीं किसी की बंदी हूँ।
अपने आप में समृद्ध संधि हूँ मैं समस्त विश्व की हिंदी हूँ।

हिंदी भारतीय संस्कृति की पहचान है। हमारी संस्कृति को सुदृढ़ करने में इस हिंदी का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। हिंदी भाषा ने भारतीय संस्कृति को एक अलग पहचान दी है। भारतीय संस्कृति तो मनुष्य मात्र की अनुत्तम संपत्ति है। मानव व समाज को पहले भी इसकी जरूरत थी, आज भी है और भविष्य में भी सदैव रहेगी। जब तक मानव के हृदय में सुख तथा शांति की खोज की जिज्ञासा है, जब तक सभ्यता में सभी के कल्याण के लिए जगह है जब तक दूसरों की चिंता दुर्गुण नहीं माना जाता, ज्ञान तथा सहिष्णुता की श्रेयस्कारिता को अस्वीकृत नहीं किया जाता, तब तक भारतीय संस्कृति के आलोक की आवश्यकता मनुष्य को बनी रहेगी। डॉक्टर संपूर्णानंद के शब्दों में देखें, तो इनका कहना है कि--- ''भारत के निवासियों में सबसे बड़ी संख्या हिंदुओं की है। भारतीय संस्कृति की रक्षा का मुख्य भार भी हिंदुओं पर ही है। यह अक्षरशः ठीक भी है कि यह संस्कृति किसी एक जाति, एक वर्ण, एक संप्रदाय की संपत्ति नहीं है- इसके वर्तमान कलेवर को छोटी-बड़ी कई धाराओं ने पुष्ट किया है। जिससे कुछ का उद्‌गम भारत के बाहर है लेकिन हम देखते हैं कि समुद्र तक पहुँचते-पहुँचते गंगा में सैकड़ों छोटी बड़ी कई नदियों का जल मिल जाता है और यह मेल ऐसा होता है कि एक नदी का पानी दूसरे पानी से अलग नहीं किया जा सकता। फिर भी भागीरथी की मुख्यधारा वही है, जो हिमालय की गोद की में पलकर हरिद्वार के पुण्य क्षेत्र में हमको दर्शन देती है। गंगा का गंगत्व तो इसी धार पर है।''1 भारतीय संस्कृति का प्रधान अंग वही है, जिसका विकास आज से सहस्त्रों वर्ष पूर्व सिंधु तथा सरस्वती के किनारे भृगु, अथर्व, अंगिरा वशिष्ठ तथा विश्वामित्र के तपोवन में हुआ था। तब से उसमें बहुत-सी देशी-विदेशी संस्कृतियों का योग हुआ है, इसने सबको

अपनाया है और एक नया रूप दिया है।

हम सबके लिए सदैव यह ध्यातव्य होना चाहिए कि इस धारा से ही भारतीय संस्कृति का भारतीयपन, उसका व्यक्तित्व है। इसकी रक्षा का भी दायित्व हम सब पर हैं। अतः इसे विलुप्त होने से भी बचाना है। आज हमारी संस्कृति पर पाश्चात्य का अनुकरण बहुत तेजी से हो रहा है, जिससे यह चिंता बनती है कि हम अपनी संस्कृति की जड़ों से कटे नहीं, चाहे परिस्थितियाँ कैसी भी हो। यदि परंपरा लुप्त हो गई तो हमारी सांस्कृतिक विशेषता भी लुप्त हो जाएगी।

जिस प्रकार भारत में पाश्चात्य देशों के अनुकरण हो रहे हैं, वह चिंता का विषय है। इस पर विशेष ध्यान रखना है कि हम दूसरों के नकल के प्रभाव में आकर अपनी संस्कृति से दूर ना हो। इसी चिंता को डॉक्टर संपूर्णानंद ने अपने निबंध ''हमारा सांस्कृतिक पतन'' में जताया है। लेखक को डर है कि--- ''राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से अभ्युत्थित होकर भी हम सांस्कृतिक दृष्टि से पतित ही न बने रहें। यह डर इसलिए होता है कि हम सबको अपनी पराधीनता, दुर्बलता तथा दरिद्रता का पता है, परंतु सांस्कृतिक पतन का पता नहीं है। हम अपनी आत्मा, अपनेपन को खोते जा रहे हैं, खो रहे हैं। पर इस बढ़ती हुई क्षति की ओर हमारा ध्यान नहीं गया है। एक दिन ऐसा आ सकता है कि शरीर हमारा रह जाए, पर इसमें निवास किसी दूसरी आत्मा का हो जाए। हमारी आत्मा मर चुकी होगी, हमारी अपनी आत्मा। हमारा सांस्कृतिक जीवन दूसरों की प्रतिकृति नकल मात्र होगा।''2

भारतीयों को सचेत रहना है कि हम अपनी संस्कृति का पतन ना होने दें। सभी को अपने कर्तव्यों और फर्ज के प्रति सदैव तत्पर रहना है। जिस संस्कृति पर मनुष्य अब तक गर्व करता आया है, उसे संभाले रखना भी हम सबके साथ अगली पीढ़ी की जिम्मेदारी है। संस्कृति की रक्षा का सबसे बड़ा दायित्व शिक्षित वर्ग के उस पर है, जिसको हमारे समाज का नेतृत्व जन से ही प्राप्त है यानी ब्राह्मण वर्ग। इस समुदाय से। क्योंकि शास्त्रों की रक्षा करके भारत ही नहीं सारे सभ्य जगत पर महान उपकार करने का श्रेय ब्राह्मण को है। हमारी संस्कृति के उत्तरोत्तर वृद्धि में इसका महत्वपूर्ण योगदान है। हिंदी को समृद्ध करने में उत्तर प्रदेश का महती योगदान अलग से रेखांकित करने योग्य है। हिंदी को समृद्ध करने में प्रदेश विशेष ही नहीं, देश भर के साहित्यकार हिंदी में लेखन कर हिंदी साहित्य को समृद्ध करने में अपना बहुमूल्य योगदान देते रहे हैं और दे रहे हैं। साहित्य सेवा निरंतर जारी है। हिंदी सभी को लुभा अपने रंग में रंग रही है।

किसी भी भाषा को विजयी होने में, स्थापित होने में समय लगना व संघर्ष करना ही पड़ता है। तमाम मुश्किलों का सामना करते जूझते आज हिंदी देश ही नहीं परदेश में भी अपनी गहरी पैठ बना चुकी है। यह दूसरी बात है कि कानूनी तौर पर अभी भी हिंदी राष्ट्र की भाषा का स्थान नहीं ले पाई। साहित्य के द्वारा ही हिंदी अपने राष्ट्र से होती हुई विश्व के तकरीबन देशों में अपनी मधुर, शीतल, प्रेम व आपसी भाईचारे को बढ़ावा देने वाली भाषा बन चुकी है।

इसके विस्तार में जाते हैं तो इतिहास गवाह है कि हिंदी बहुत ही सरल व सहज है। संस्कृत के तत्सम शब्दों, क्लिष्ट शब्दों के बाद भी हिंदी सरल ही है और आमजन भी इसे सहजता से ग्रहण कर लेते हैं। सिर्फ पढ़ा-लिखा वर्ग ही नहीं, जो सामान्य वर्ग है, शिक्षित नहीं है, वह भी हिंदी समझने में सक्षम है, यह इसकी विशेषता है।

सर्वप्रथम गाँधी जी ने ही इसे पहचाना कि हिंदी सहज सरल है। गाँधीजी स्वयं अहिंदी भाषी होते हुए भी स्वयं हिंदी बाकायदा सीखा ही नहीं बल्कि इसके उत्थान तथा

यह हिंदी के प्रति प्रेम ही था कि इन्होंने स्वयं पहले हिंदी सीखी और फिर कई वर्ष तक दक्षिण में अखिल-भारतीय -साहित्य- सम्मेलन की ओर से प्रचार कार्य करते रहे। काका जी का मानना था कि राज्य का सब काम कर हिंदी में चलाना जनता पर बोझ लादना है यदि भारत में प्रजा का राज चलाना है तो वह जनता की भाषा में ही चलाना होगा। ''गाँधीजी इनका बहुत सम्मान व इन पर विश्वास करते थे। हिंदी भाषा के प्रचार कार्य में जहाँ कहीं भी त्रुटि या दोष दिखाई देता या किसी कारणवश उसकी प्रगति रुक जाती तो गाँधीजी काका साहब को ही जाँच के लिए भेजते।''

प्रचार के लिए अभूतपूर्व कार्य किया। ''सन् 1918 ई. में वे जब हिंदी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष बने तथा दक्षिण भारत में हिंदी प्रचार के लिए योजनाएँ बनाई, इन्होंने हिंदी को राष्ट्रीय एकता और स्वदेशाभिमान का आधार माना। दक्षिण अफ्रीका के प्रवास काल में ही उनकी यह मान्यता बन चुकी थी कि हिंदी राष्ट्रभाषा का स्थान ले सकती है।'' भाषा और साहित्य के क्षेत्र में गाँधी जी ने अपना अमूल्य योगदान दिया और गहरा प्रभाव डाला, जिससे बहुतों ने प्रेरणा भी ली।

सन् 1909 में गाँधीजी ने हिंदी स्वराज में लिखा था---- ''हर पढ़े-लिखे हिंदुस्तानी को अपनी भाषा..... और सब को हिंदी का ज्ञान होना चाहिए।''

1935 ई. में गाँधीजी जब दोबारा अखिल भारतीय साहित्य सम्मेलन इंदौर अधिवेशन के सभापति बने तब उन्होंने कहा--- ''हिंदी को हम राष्ट्रभाषा मानते हैं, वह राष्ट्रीय भाषा होने के लायक है। वही भाषा भारतीय बन सकती है, जिसे अधिसंख्य लोग जानते बोलते हों और जो बोलने में सुगम हो। ऐसी भाषा हिंदी ही है।'' गाँधी जी ने पहले ही मान लिया था कि हिंदी ही राष्ट्रभाषा बनने के सारे गुण रखती है। गाँधीजी के कारण अनेक लोगों ने हिंदी सीखी। यह इनका ही प्रभाव था कि हिंदी शुद्ध साहित्य की परिधि से बाहर आकर राजनीति के मंच पर स्थापित हुई।

हिंदी भाषा के अनन्य साधकों में काका कालेलकर का नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। सन् 1938 ई. में दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा के एक अधिवेशन में भाषण देते हुए उन्होंने कहा था---- ''हमारा राष्ट्रभाषा प्रचार एक राष्ट्रीय कार्यक्रम है।'' काका कालेलकर ने हिंदी के प्रचार-प्रसार को अपना अधिकांश समय दिया। इनकी भी मूल भाषा हिंदी नहीं थी। इनकी मूल भाषा मराठी थी। यह हिंदी के प्रति प्रेम ही था कि इन्होंने स्वयं पहले हिंदी सीखी और फिर कई वर्ष तक दक्षिण में अखिल-भारतीय -साहित्य- सम्मेलन की ओर से प्रचार कार्य करते रहे। काका जी का मानना था कि राज्य का सब काम कर हिंदी में चलाना जनता पर बोझ लादना है यदि भारत में प्रजा का राज चलाना है तो वह जनता की भाषा में ही चलाना होगा। ''गाँधीजी इनका बहुत सम्मान व इन पर विश्वास करते थे। हिंदी भाषा के प्रचार कार्य में जहाँ कहीं भी त्रुटि या दोष दिखाई देता या किसी कारणवश उसकी प्रगति रुक जाती तो गाँधीजी काका साहब को ही जाँच के लिए भेजते।''

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की स्थापना के बाद जब गुजरात में हिंदी प्रचार की व्यवस्था की बात हुई तो गाँधी जी ने काका साहब जी को ही चुना क्योंकि वे बहुत ही जिम्मेदारी से ऐसे कार्य पूरा करते। अतः इनके योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता। इनकी चर्चा के बिना हिंदी विकास की बात पूरी नहीं हो सकती है। हिंदी के प्रति इनके गहरा प्रेम का ही परिचायक है कि गैर हिंदीभाषी होकर भी इन्होंने हिंदी साहित्य में अपना उच्च नाम किया। ''30 से अधिक पुस्तकों की रचना की। यात्रा वृत्तांत संस्मरणात्मक निबंध तथा लोकजीवन के अनुभवों पर आधारित लेखन इनका आनंद का विषय था। काकाजी उच्च कोटि के विचारक के साथ विद्वान लेखक की श्रेणी में आते हैं।'' इन्होंने सरल तथा ओजस्वी भाषा में विचारपूर्ण निबंध लिखें। दक्षिण प्रांत में हिंदी के प्रति अनुराग दिनों दिन बढ़ता ही जा रहा है, बहुत से लेखक हिंदी में अपनी गहरी पैठ बना चुके हैं। हिंदी सिर्फ दक्षिण में ही नहीं समस्त विश्व को अपनी ओर आकर्षित कर चुकी है।

हिंदी को सुदृढ़ करने में तमाम साहित्यकारों का जो महत्व है, अलग से रेखांकित करने योग्य है। जिनके साहित्य को पढ़ लोग हिंदी पढ़ने को उत्सुक हो रहे हैं। हिंदी साहित्य का अन्य भाषाओं में अनुदित होना, अन्य भाषाओं के साहित्य का हिंदी में अनुदित होना इसकी महत्ता को दर्शाता है। हिंदी पढ़ने की लालसा दिनों दिन बढ़ती जा रही है। आज के आधुनिक युवा लेखक लेखिका की लंबी जमात इसे दिनों दिन बढ़ा रहे हैं।

निष्कर्ष --

निष्कर्षत : बस इतना ही कह सकते हैं कि भाषा बोली कोई भी हो, यह हमें एकता का पाठ पढ़ाती है। सभी भाषाओं की अपनी विशेषता है तो कुछ दोष भी होते हैं पर हम इसके गुणों पर ज्यादा ध्यान दें तो यह बहुत आसानी से बोली-समझी जाने वाली भाषा की श्रेणी में आती है, यही इसकी विशिष्टता है। भाषा हमें आपस में जोड़ती है। प्रेम और स्नेह के साथ मानव को मानवता का संदेश देती है। यही कार्य हिंदी निरंतर करती हुई अपनी उत्तरोत्तर विकास यात्रा जारी रखती है। सभी को प्रेम पाश में बांधती है।

संदर्भ ग्रंथ-

1. ''हमारा सांस्कृतिक पतन'' डॉ. संपूर्णानंद पुस्तक अक्षय वट पृष्ठ संख्या-23, 24
2. ''हमारा सांस्कृतिक पतन'' डॉ. संपूर्णानंद पुस्तक अक्षय वट पृष्ठ संख्या- 22, 23
3. ''अक्षय वट'' सं. डॉ. भूपेंद्र कलसी प्रथम संस्करण, निर्मल पब्लिकेशन पृष्ठ संख्या-13, 14
4. ''अक्षय वट'' सं डॉ. भूपेंद्र कलसी पृष्ठ संख्या-14
5. वही पृष्ठ-14
6. वही पृ--39
7. वही पृ-39
8. वही-पृ39, 40

डॉ. अर्चना त्रिपाठी, व्याख्याता, अरविंद महिला कॉलेज, श्रीमती रेखा त्रिपाठी (डॉ. अर्चना त्रिपाठी)
शिवम् पराशर रेसिडेशी, 4-बी, बाजार समिति रोड, एस.बी.आई. एटीएम के बगल में, पटना-16 (बिहार)
मो. : 7033643268, E-mail : atripathy835@gmail.com

✧ ✧ ✧

एक सशक्त और कौतुकी नाटककार

तितिक्षा जी वसावा

एक नाटककार के रूप में मनु जी बड़े कौतुकी हैं, जिन्हें नए-नए दृश्यों की कल्पना में आनंद आता है। उनके कई बाल नाटक इतने कौतुकपूर्ण हैं कि उन्हें पढ़ते हुए अंत तक उत्सुकता बनी रहती है। पंचतंत्र की एक कहानी पर आधारित 'उल्लू का राज तिलक' भी उनका ऐसा ही दिलचस्प बाल नाटक है, जिसमें हवा दीदी, निक्का-निक्की और मोहल्ले के बच्चों की उपस्थिति है। हवा दीदी सबको जंगल में स्वयं देखे हुए नाटक के विषय में बताती है, तो बच्चों को लगता है कि यह नाटक उनकी आँखों के सामने ही हो रहा है। छह दृश्यों के इस नाटक में सभी दृश्य बड़ी ही सुंदरता से प्रस्तुत किए गए है।

'बचपन का एक दिन' भी ऐसा ही मजेदार बाल नाटक है। इस बाल नाटक की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसमें छोटे बच्चों के भुलक्कड़ स्वभाव की पूरी झाँकी है। किस्सा शीनू से शुरू होता है, जो एक दिन अपनी होमवर्क की कॉपी स्कूल ले जाना भूल जाती है। इस पर स्कूल में उसे डाँट पड़ती है।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी वरिष्ठ बाल साहित्यकार प्रकाश मनु हिंदी बाल साहित्य के सशक्त हस्ताक्षर हैं। वैसे तो उन्होंने अपने सशक्त लेखन से बाल साहित्य की प्रायः सभी विधाओं को समृद्ध किया है। पर बाल नाटकों में उनका योगदान अप्रतिम है। उन्होंने बच्चों के लिए विविध रंगों के लगभग सौ बाल नाटकों की रचना करके इस विधा को समृद्धि के नए शिखर तक पहुँचाया है।

आज के दौर के बच्चों के लिए लिखे गए उनके नाटक सर्वाधिक लोकप्रिय हैं। उनके बाल नाटकों के डेढ़ दर्जन से अधिक संग्रह प्रकाशित हो चुके है। उनकी पुस्तक 'इक्कीसवीं सदी के बाल नाटक' के आवरण पर दी गई ये पंक्तियाँ बच्चों के नाटकों के बारे में बहुत कुछ कह देती हैं -

''नाटक बाल साहित्य की ऐसी विधा है, जिसमें कविता, कहानी, रहस्य-रोमांच और अभिनय सभी कुछ शामिल है। बच्चों को नाटकों में जितना आनंद आता है, उतना शायद ही साहित्य के किसी और रूप में। जब वे नाटकों में खुद अपने जैसे बच्चों और उनकी अजब-गजब मुश्किलों को सामने मंच पर देखते हैं या उन्हें आनंद और मस्ती से सराबोर होकर किसी अभियान में जुटा देखते हैं, तो उनके भीतर एक गहरा रोमांच पैदा होता है। वे दुख और मुश्किलों की घड़ियों में भी मस्ती से ठहाके लगाना सीख लेते हैं। और यों बच्चों के

मन, इच्छाओं और सपनों से जुड़े बाल नाटक उनके लिए अनायास मुक्तिदूत बन जाते हैं।''

इससे इतना तो समझ में आ ही जाता है कि मनु जी बच्चों के मनोविज्ञान को अच्छी तरह समझते हैं। उनके बाल नाटकों के विषय भी बच्चों की रुचि के अनुरूप नए, आधुनिक और अच्छी सीख देने वाले हैं।

बाल नाटकों की अपनी सृजन-यात्रा को लेकर उन्होंने एक साक्षात्कार में कहा है, ''सन् 1994-96 के आस-पास याद पड़ता है, मैंने पहली बार छह नाटक लिखे और इसका श्रेय अलका पाठक जी को जाता है, जो उन दिनों आकाशवाणी के विदेश सेवा प्रभाग में थीं। उन्होंने ही मुझसे बच्चों के लिए नाटक लिखने का आग्रह किया था। खास बात यह है कि ये नाटक काफी अलग तरह के थे और प्रचलित नाटकों से बहुत भिन्न थे।''

दूसरे बाल नाटककारों से अपने नाटकों की भिन्नता के विषय में वे लिखते हैं, ''मेरे बाल नाटकों में कथावस्तु और किस्सोगोई पर बहुत जोर है। उन्हें पढ़ते हुए आपको नाटक और किस्से दोनों का आनंद आएगा।'' इसी तरह अपने बाल नाटकों की रचना-प्रक्रिया के बारे में एक और भेद की बात वे बताते है कि ''अकसर मैं नाटक के किसी न किसी पात्र में छिपकर उस नाटक में उपस्थित हो जाता हूँ और वह पात्र बड़ी खूबसूरती से उस नाटक को धीरे-धीरे उस संदेश के ओर ले जाता है, जो मैं नाटक के जरिए देना चाहता हूँ। पर जैसा कि मैंने पहले भी कहा, यह किसी स्थूल ढंग से नहीं होता। बड़ा अनायास होता है, इसलिए नाटकों की स्वाभाविक लय-गति और पात्रों की स्वतंत्र शख्सियत बरकरार रहती है।''

प्रकाश मनु जानते है कि बच्चों को उनके नाटक अत्यंत रुचिकर लगते है। इसलिए वे बच्चों को कोई भी संदेश बड़े रोचक अंदाज में देते हैं, जिससे उनके नाटकों का आनंद कम नहीं होता। उनके नाटकों के विषय और पात्र भी बच्चों को अपने बिल्कुल नजदीक लगते है। इसीलिए वे बच्चों को लुभाने वाले ऐसे बहुरंगी बाल नाटक देने में सफल रहे हैं, जिससे वे बच्चों के प्रिय लेखक भी बन गए हैं।

वैसे भी मनु जी का मानना है कि ''बच्चों को नाटकों में जितना आनंद आता है, उतना शायद ही साहित्य के किसी और रूप में। लिहाजा गली-मोहल्लों, स्कूल के फंक्शनों और सार्वजनिक समारोहों में या फिर राष्ट्रीय पर्वो पर जब कोई मन को छू लेने वाला अच्छा नाटक होता है, तो नाटक प्रस्तुत करने वालों के साथ ही उस रस में भीगने वाले एक साथ असंख्य लोग होते है। अनगिनत आँखें एक साथ भीगती हैं और अनगिनत होंठों पर एक साथ हँसी फुरफुराती है। ठहाके लगते हैं, जैसे वे किसी अगाध आनंद के सागर में गोते खा रहे हों।''

मनु जी अपने बाल नाटकों में कोई बड़ी से बड़ी बात भी इशारों में कह देते हैं। उनके बाल नाटकों में विविधता भी काफी है। उन्होंने एक ओर हास्य-विनोद के नाटक लिखे हैं तो दूसरी ओर वन्य जीवों और पर्यावरण की समस्या से जुड़े नाटक भी। इसी तरह उनके यहाँ राष्ट्रीय भावना से जुड़े नाटक हैं तो शिक्षा और अन्य सामाजिक समस्याओं से जुड़े नाटक भी काफी संख्या में हैं। फिर बच्चों के मनोविज्ञान तथा कल्पना और फंतासी पर आधारित उनके नाटकों का

तो जवाब ही नहीं, जो बाल पाठकों को सबसे अधिक लुभाते हैं। मनु जी के बाल नाटकों में मनुहार है, प्रतिकार है, छेड़छाड़ है एवं प्रायश्चित्त भी है। मानो बच्चों का पूरा भाव संसार ही उनके बाल नाटकों में समाहित हो गया हो।

एक सशक्त बाल नाटककार के रूप में मनु जी बातों-बातों में ही बच्चों को उचित राह दिखाकर, उनमें सुनहरे सपने जगाकर उन्हें प्रेरित करना चाहते हैं। उन्होंने भिन्न-भिन्न प्रकार के कथानकों द्वारा बच्चों को नवीनता भरी रचनाएँ प्रदान की हैं। उनके बाल नाटक बिना कुछ कहे, दूसरों के दुख-दर्द को सहानुभूति से समझने की सीख देते हैं। साथ ही बच्चों को नए और साहसिक कार्य करने की प्रेरणा भी इन नाटकों के जरिए मिलती है।

प्रकाश मनु जी के बाल नाटकों के संग्रह हैं, 'मुनमुन की छुट्टी क्लब' (2004), 'बच्चों के अनोखे नाटक' (2011), 'बच्चों के रंग-रँगीले नाटक' (2011), 'बच्चों के श्रेष्ठ सामाजिक नाटक' (2011), 'आओ नाटक खेलें' (2011), 'पंपापुर में टूटू हाथी' (2011), 'नए-निराले बाल एकांकी' (2011), 'बच्चों को सीख देते अनोखे नाटक' (2011), 'बच्चों के श्रेष्ठ हास्य एकांकी' (2011), 'हवा दीदी का सर्कस' (2011), 'खेल-खेल में नाटक' (2013), 'मुझसे दोस्ती करोगे' (2013), 'पंचतंत्र के अनोखे नाटक' (2013), 'हास्य-विनोद के बाल नाटक' (2015), 'इक्कीसवीं सदी के बाल नाटक' (2015), 'मेरे प्रिय बाल नाटक' (2015), 'बच्चों के श्रेष्ठ पंद्रह एकांकी' (2016)। इसके अतिरिक्त उनके समूचे बाल नाटकों का संचयन 'मेरे संपूर्ण बाल नाटक' (दो खंड) भी प्रकाशित हो चुका है।

मनु जी के प्रायः सभी नाटकों के विषय एक-दूसरे से भिन्न एवं नए है। इनमें से कई बाल नाटक बहुत मशहूर हुए हैं। ऐसा ही एक नाटक है 'मुसीबत दीनू की', जिसमें एक गप्पी लड़का दीनू अपने बड़बोलेपन से बाज नहीं आता। वह काफी शेखीखोर हैं, पर उसका झूठ बार-बार खुल जाता है, इसलिए सभी बच्चे उसका मजाक उड़ाते हैं। इस बात से दीनू बहुत दुखी था। एक दिन वह लालाराम के बगीचे में उदास बैठा था। तभीं चीं-चीं चिड़िया ने उसे राह दिखाई कि जब तुम जरूरत से ज्यादा गप हाँकोगे, तब मै चीं-चीं-चीं बोलना शुरू कर दूँगी। बस, तुम उसी समय चुप हो जाना।

इसके बाद स्कूल में और बच्चों के बीच दीनू के साथ क्या-क्या अजीबोगरीब स्थितियाँ हुईं, मनु जी ने इसका दिलचस्प वर्णन किया है। ऐसे ही 'अजब छींक नंदू की' बड़ा हास्यपूर्ण नाटक है। इसमें दुबला-पतला साहसी नंदू सचमुच अजीब है, जिसकी छींक से बड़े अजीबोगरीब कमाल हो जाते हैं और लोग एकाएक डर जाते हैं। जमालपुर गाँव के नंदू के ऐसे तमाम मजेदार किस्से इस बाल नाटक में हैं, जिन्हें पढ़कर आनंद आ जाता है।

गाँव के शरारती बच्चों पर केंद्रित मनु जी का प्रसिद्ध बाल नाटक है, 'गंगा दादी जिंदाबाद!' इसमें बच्चे गंगा दादी के आम के बगीचे से आम चुराते हैं, फिर बड़े मजे में दादी की फटकार भी सुन लेते हैं। लेकिन उनकी शरारतों के कारण जब दादी को चोट लग जाती है, तब यही बच्चे उनकी सेवा करके यह प्रमाणित भी करते हैं कि उनमें दादी के प्रति आदर का भाव कम

नहीं है। वे उन्हें उठाकर लाते हैं। उनकी मरहम-पट्टी करवा के सेवा भी करते हैं और आखिर गंगा दादी की उन्हें खूब अशीषें भी मिलती हैं।

इसी तरह 'शेरू द ग्रेट' हलका-फुलका मजेदार बाल नाटक है, जिसका असली हीरो शेरू है। इसमें शेरू कुत्ते और बच्चों की मित्रता भुलाई नहीं जा सकती। 'बजा जब ढोल' में गाँव के सीधे-सादे किंतु हिम्मत वाले युवक वीर बाँका के कमाल को देखकर राजदरबार के लोग अचंभित हो जाते हैं। वीर बाँका के ढोल बजाने पर राजा, मंत्री और दरबारी न चाहते हुए भी बरबस नाचने लगते हैं। नाचते-नाचते सबका बुरा हाल है। मनु जी ने सेवकों के परस्पर संवाद के जरिए मानो राजदरबार का पूरा दृश्य ही उपस्थित कर दिया है, जिसमें हर कोई नाचते-नाचते हैरान-परेशान है, पर नाच थमने का नाम ही नहीं लेता।

उस विशाल ढोल पर थाप देते उस बहादुर नौजवान ने राजा को बता दिया कि भरे दरबार में किसी सच्चे वीर का अपमान करने का नतीजा क्या होता है। बाद में राजा भुल्लन शाह को अपनी गलती महसूस हुई। उसने वीर बाँका को अपना सेनापति बना लिया।

'मनु जी के हास्य से भरपूर और मनोरंजक बाल नाटकों का उल्लेख करें, तो इनमें 'मैं करमकल्ला नहीं हूँ', 'पप्पू बन गया दादा जी!', 'हाहा-हीही', 'बचपन का एक दिन', 'नंदू की छींक' आदि बहुत मजेदार बाल नाटक हैं। 'मैं करमकल्ला नहीं हूँ' में सारे बच्चे जिसे करमकल्ला कहकर चिढ़ाया करते थे, वही बच्चा बाद में साथियों को अपनी बुद्धिमत्ता से पानी-पानी कर देता है। डब्बू उर्फ करमकल्ला मस्ती से डांस करते हुए अपनी एक लाजवाब कविता सुनाकर सबका मुँह बंद कर देता है। वह मजेदार कविता आप भी सुन लीजिए -

मैं करमकल्ला नहीं हूँ,
हाँ, मैं करमकल्ला नहीं हूँ,
यारो, मैं करमकल्ला नहीं हूँ।
करमकल्ला तो होता है वो
हाँ, देखो लुढ़कता है जो,
जैसे चाँदी का छल्ला,
पीछे-पीछे भागा
हाय, करमकल्ला।
हा-य-क-र-म-कल्ला!

'पप्पू बन गया दादा जी!' भी मनु जी का बड़ा मजेदार बाल नाटक है। इसमें कुल पाँच पात्र हैं, पप्पू, उसके माता-पिता, बड़ी बहन और दादा जी। ये सभी पप्पू के प्यारे से परिवार के सदस्य हैं। पप्पू घर में सबसे छोटा है, इसलिए सबका लाड़ला भी है। एक दिन वह घर में बैठकर पढ़ रहा था, तभी उसे दादा जी की छड़ी दिखाई दी। अपनी बाल सुलभ जिज्ञासा से भरकर वह सोचता है, आस-पास कोई नहीं है, तो मैं छड़ी लेकर देखूँ? वह छड़ी के पास जाकर उसे उठा लेता है। फिर मन ही मन सोचने लगता है कि दादा जी अकसर हमें इस छड़ी से धमकाते हैं। तो फिर मैं भी दादा जी क्यों न बन जाऊँ?

बस, तभी उसने दादा जी का चश्मा उठाकर पहन लिया। फिर भी उसे कुछ कमी लगी, तो उसने हाथ में अखबार लिया और आरामकुर्सी पर बड़ी शान से बैठकर उसे पढ़ने लगा। तभी उसकी दीदी उसे देखकर अचरज में पड़ जाती है। इसी तरह घर के अन्य सदस्यों ने भी उसके दादा जी बनने पर भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाएँ दीं। यों नाटक बड़े मजेदार ढंग से आगे बढ़ता है।

असल में 'पप्पू बन गया दादा जी!' बाल नाटक के माध्यम से मनु जी ने पप्पू के जरिए बच्चों के मनोभावों को प्रस्तुत किया है। बच्चों में हर छोटी से छोटी चीज को लेकर जिज्ञासा वृत्ति देखने को मिलती है। साथ ही उनमें सदैव कुछ अलग करने की उत्सुकता बनी रहती है। इसी तरह दादा जी की छड़ी को देखकर पप्पू के मन में विचार आया कि क्यों न मैं भी दादा जी बनकर देखूँ। मैं कैसा लगूँगा? इस तरह उसके मन में कौतूहल जागने से वह दादा जी बनने का प्रयत्न करता है।

बच्चे हमेशा उत्साही होते हैं, इसलिए हर वक्त वे कुछ नया सीखना और जानना चाहते है। पप्पू जब दादा जी की छड़ी उठाकर देखता है तो उसका उत्साह कहीं अधिक बढ़ जाता है। वह फौरन उनका चश्मा पहन लेता है और अखबार पढ़ने का दिखावा करके बड़ा प्रसन्न होता है कि अब मैं बिल्कुल दादा जी जैसा ही लग रहा हूँ।

फिर बाल अभिनय की भी बड़ी खूबसूरत बानगी इस बाल नाटक में देखने को मिलती है। पप्पू जब दादा जी बनने का प्रयत्न करता है तो उसे ज्ञात ही नहीं है कि वह अभिनय कला का उपयोग कर रहा है। अभिनय की कला बच्चों में बड़ों से कहीं अधिक विकसित होती है। वे अपने आस-पास के लोगों का अनुकरण कर अनजाने ही अभिनय करते रहते हैं। जब उसे देखकर उसकी सोना दीदी अचरज में पड़ गई, तब पप्पू को अपना अभिनय और अधिक अच्छे से प्रस्तुत करने का अवसर मिल जाता है। इसी तरह पप्पू का आत्मविश्वास भी यहाँ देखने की बात है।

जब हम कुछ करने में सफल होते हैं, तो हमारा आत्मविश्वास बढ़ जाता है। यही बात पप्पू में देखने को मिलती है। जब वह दादा जी बनने का प्रयत्न करता है, तो उसे स्वयं यह लगता है कि मैं तो सच में दादा जी बन गया हूँ। जब सोना दीदी उसकी तारीफ करती है कि, ''अरे वाह! पप्पू तेरे भी क्या ठाट हैं।'' तो दीदी की यह बात उसके आत्मविश्वास के लिए सकारात्मक सिद्ध होती है। वह और अच्छे से दादा जी का अभिनय करने का प्रयत्न करता है।

ऐसे ही बाल मनोविज्ञान की दृष्टि से बच्चों के शरारती स्वभाव की भी इसमें झलक है। पप्पू द्वारा दादा जी बनने का प्रयत्न पूरी तरह शरारत से पूर्ण है। यही कारण है कि जब दीदी उसकी प्रशंसा करती है, तब वह बड़ी उद्दंडता से अपने अभिनय के माध्यम से उत्तर देता है कि "क्या पप्पू-पप्पू कर रही हो, दादा जी नहीं कह सकती?" फिर अपनी मम्मी को आवाज देकर कहता है कि "बहू, ओ बहू, इन बच्चों को कुछ अच्छी सीख भी देती हो या यों ही...?" मम्मी पास आकर उसका स्वांग देखकर, उसे दादा जी की चीजें रखने को कहती है पर वह नहीं मानता। कुछ देर में दादा जी भी आ जाते हैं, वे भी अपनी छड़ी और चश्मा वापस माँगते हैं। इस पर पप्पू और अधिक शरारत करने लगता है।

इस नाटक में बच्चे के भय की अभिव्यक्ति भी देखने लायक है। पहले तो पप्पू का अभिनय देख, उसकी मम्मी भी खुश हो जाती हैं। किंतु जब वह उनसे भी शरारत करने लगता है, तब वे उसे धमकी देती हैं कि पापा से उसकी शिकायत करेंगी। पप्पू की उद्दंडता देख मम्मी क्रोधित हो जाती हैं। तभी पापा भी आ जाते हैं और उसे डाँटते हैं, तब उसे डर लगने लगता है। उसे लगता है कि उसने कुछ गलत किया है और उसकी उसे सजा मिल सकती है। तब वह दादा जी की छड़ी और चश्मा वहीं छोड़कर घर के बाहर दौड़कर चला जाता है। लेकिन अंत में जब दादा जी उसके शरारती अभिनय से क्रोधित न होकर उससे प्रेम से बात करते हैं, उसके अभिनय की तारीफ करते हैं, तो वह प्रसन्न हो जाता है।

इस तरह बाल मनोविज्ञान की कई अवस्थाएँ मनु जी के इस अकेले बाल नाटक में देखने को मिल जाती हैं। इससे यह भी पता चलता है कि बच्चों के लिए लिखे गए उनके नाटक बाल मनोविज्ञान के कितने निकट हैं।

एक नाटककार के रूप में मनु जी बड़े कौतुकी हैं, जिन्हें नए-नए दृश्यों की कल्पना में आनंद आता है। उनके कई बाल नाटक इतने कौतुकपूर्ण हैं कि उन्हें पढ़ते हुए अंत तक उत्सुकता बनी रहती है। पंचतंत्र की एक कहानी पर आधारित 'उल्लू का राज तिलक' भी उनका ऐसा ही दिलचस्प बाल नाटक है, जिसमें हवा दीदी, निक्का-निक्की और मोहल्ले के बच्चों की उपस्थिति है। हवा दीदी सबको जंगल में स्वयं देखे हुए नाटक के विषय में बताती है, तो बच्चों को लगता है कि यह नाटक उनकी आँखों के सामने ही हो रहा है। छह दृश्यों के इस नाटक में सभी दृश्य बड़ी ही सुंदरता से प्रस्तुत किए गए है।

'बचपन का एक दिन' भी ऐसा ही मजेदार बाल नाटक है। इस बाल नाटक की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसमें छोटे बच्चों के भुलक्कड़ स्वभाव की पूरी झाँकी है। किस्सा शीनू से शुरू होता है, जो एक दिन अपनी होमवर्क की कॉपी स्कूल ले जाना भूल जाती है। इस पर स्कूल में उसे डाँट पड़ती है। घर आकर उसने सारी बात पापा को बताई तो वे हँसकर कहते हैं कि अरे, बचपन में तो सभी चीजें भूल जाते है। फिर वे बड़े मजे से उसे अपने बचपन के भुलक्कड़पने का मजेदार किस्सा सुनाते हैं, तो शीनू खूब हँसती है। नाटक के अंत में वह अपने पापा के भुलक्कड़पने पर एक मजेदार कविता लिखकर हिंदी वाली मैडम को दिखाती है, तो वे भी खूब जोर से हँस पड़ती हैं। यों नाटक बड़ी हँसी-खुशी के साथ खत्म होता है।

'मुझसे दोस्ती करोगे?' कल्पना और फंतासी पर आधारित बाल नाटक है, जिसमें एक बच्चे के अकेलेपन का चित्रण है। नाटक में गोपू के मम्मी-पापा दोनों पूरे दिन ऑफिस में रहते हैं, क्योंकि दोनों ही नौकरी करते हैं। इसलिए स्कूल से लौटने के बाद मासूम गोपू अकेला घर में रहता है और स्वयं से ही बातें करता है। उसके नादान बाल मन में बहुत सारे प्रश्न उठते हैं, फिर वह स्वयं ही अपने प्रश्नों के हल भी ढूँढ़ लेता है। नाटक में गोपू और लाल परी की दोस्ती के बड़े मजेदार दृश्य हैं, जिनसे पता चलता है कि लाल परी से दोस्ती हो जाने पर वह कितना खुश है। परी उसके साथ खेलती है, कहानियाँ सुनाती है और यहाँ तक कि उसके होमवर्क में भी मदद कर देती है।

दूसरी तरफ 'गोलू-मोलू गप्पू खाँ' बाल नाटक के नायक गोलू को गप्पें हाँकने की बुरी आदत है। नाटक में यह किस्सा बड़े रोचक ढंग से आया है। 'मुन्नू ने की नाटक की रिहर्सल' भी बड़ा मजेदार नाटक है। इसमें चिनिया बच्चों पर शिक्षा के बढ़ते दबाव के संबंध में व्यंग्यात्मक स्वर में कहती है, "क्या बताऊँ, इस रोज-रोज के होमवर्क के मारे मेरी तो नाक में दम है। पता नहीं मैम हम नन्हें-नन्हें बच्चों को क्यों इतना पहाड़ जैसा होमवर्क दे देती है कि करते-करते सच्ची-मुच्ची जान निकल जाती है।"

ऐसे हास्य-विनोदपूर्ण चुटीले संवाद मनु जी के बाल नाटकों में बहुत मिल जाते हैं, जिनसे उनमें एक अलग प्रभाव आ आता है।

मनु जी ने पर्यावरण से जुड़े कई बाल नाटक लिखे हैं, जिनमें 'पेड़ लगाओ, पेड़ लगाओ' बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस चुस्त-दुरुस्त बाल नाटक में मनु जी ने बड़े निराले ढंग से पर्यावरण की समस्या की तरफ बच्चों का ध्यान खींचा है, साथ ही बच्चों को पेड़ लगाने के लिए प्रेरित भी किया है। नाटक में हरियाली परी संतू को पेड़ लगाने का संदेश देते हुए कहती है कि "जगह-जगह पेड़-पौधे लगाना शुरू कर दो। देखते नहीं, धरती पर कितनी गरमी बढती जा रही है। कैसा हाहाकार हो रहा है! वर्षा भी समय पर नहीं आती, इसलिए कि लोगों ने जंगल काट दिए। तुम पेड़ लगाओ। ये धरती के गहने हैं! धरती की सुंदरता लौटेगी, तो आदमी का सुख भी।"

इसी तरह युद्ध भी हमारी दुनिया की खुशहाली के लिए किसी अभिशाप से कम नहीं हैं। 'युद्ध अब कभी नहीं' बाल नाटक में वीरता के घमंड से भरा हुआ राजा बीसलदेव स्वयं को विश्वविजेता सिद्ध करने के लिए अपनी पूरी सेना को युद्ध में झोंक देता है। अंत में जब वह मल्लीपुर के राजा मुकुंदपाल से युद्ध करता है, तो उसे वीरता का अर्थ समझ में आता है। वह लज्जित होता है और उसका घमंड चूर-चूर हो जाता है। इस बाल नाटक में राजा बीसलदेव और राजा मुकुंदपाल के संवाद बड़े प्रभावी हैं।

'जसोदा बाबू की अमर गाथा' नाटक में जस्सू नाम के एक अनाथ बच्चे की कहानी बड़े मार्मिक ढंग से सामने आती है। 'रहमान चाचा' बाल मनोविज्ञान पर आधारित नाटक है। इसका नायक एक किशोर वय का बालक शोभित है, जिसकी पढ़ाई में बिल्कुल रुचि नहीं है। इसलिए वह पढ़ाई से दूर भागता है और सारा दिन टी.वी. देखकर समय बर्बाद करता है। यही शोभित एक दिन घर से भागता है, तो एक से एक विचित्र घटनाएँ घटती हैं। वह पछतावे से भरकर अपने आप से कहता है, "अगर मैंने अपने पापा की पढने-लिखने की सीख मानी होती, तो आज यह दिन क्यों देखना पड़ता? हैरानी की बात यह है कि जो पढ़ाई मुझे तब अच्छी नहीं लगती थी, अब वह खुद-ब-खुद अच्छी लगने लगी है। पहले जो गणित आफत लगता था, वही अब मजेदार लगने लगा है।"

बच्चे सृजनात्मक और रचनात्मक कार्य में भी बड़े ही निपुण होते हैं। मनु जी का नाटक 'धरती का कलाकार' बच्चों की रचनात्मकता को ध्यान में रखकर लिखा गया है। इस बाल नाटक में एक बड़े कलाकार अवनी बाबू जब एक सात वर्ष के बच्चे श्यामल कन्हाई को मूर्ति

बनाते देख, ठगे से रह जाते हैं। वे उस नन्हे बालक कन्हाई को अपने साथ ले जाकर कला की शिक्षा देते हैं, तो उसके भीतर का कलाकार निखर उठता है। अवनी बाबू को इससे गहरा संतोष मिलता है।

आखिर वह कौन-सी प्रेरणा है, जो मनु जी से बच्चों के लिए ऐसे रोचक और रसमय बाल नाटक लिखवा लेती है? इस बारे में उन्होंने स्वयं कहा है कि बाल साहित्य की अन्य विधाओं की तरह ही नाटक लिखते हुए भी उनका पहला उद्देश्य बच्चों को आनंदित करना है -

"मैं असल में बच्चों के लिए जो कुछ भी लिखता हूँ, उसका पहला उद्देश्य तो यही होता है कि वह बच्चों को आनंदित करे। उसे पढ़ते हुए उन्हें खुशी हो। बल्कि खुशी हलका शब्द है, उसे पढ़ते हुए उनका पूरा व्यक्तित्व पुलक जाए और वह आनंद विभोरता उनकी आँखों, उनके मुसकराते होंठों, उनके मन और शरीर के पोर-पोर से फूट पड़े।...जाहिर है, ऐसी रचनाएँ उपदेश भले ही न देती हों, पर खेल-खेल में बहुत कुछ सिखा देती हैं और उन्हें पढ़कर बच्चे अच्छे होने के आनंद को जान लेते हैं। ऐसा बच्चा बुराई से बचेगा, औरों को भी बचाएगा। उसकी आत्मा मानो प्रकाशित हो उठेगी। उसके हृदय में हर किसी का दुख-दर्द समा जाएगा।"

सच ही मनु जी के बाल नाटक खूब रुचिकर और मजेदार हैं, जिनमें अकसर वे बड़ी-बड़ी बातें भी गूँथ देते हैं। एक सशक्त नाटककार के रूप में उन्होंने बच्चों की रंग-बिरंगी दुनिया को अपने बाल नाटकों के माध्यम से सुंदर रूप से प्रस्तुत किया है। बच्चों की स्वप्निल दुनिया हो, या फिर हकीकत की दुनिया, उसके हर पहलू को उन्होंने बड़ी बारीकी से अपने बाल नाटकों के जरिए प्रस्तुत किया है। संभवतः किसी और बाल नाटककार ने इतनी गहराई और विविधता के साथ बाल विश्व के हर आयाम पर विचार कर, बाल नाट्य रचनाओं के रूप में सामने लाने का प्रयास नहीं किया, जैसा मनु जी के यहाँ दिखाई पड़ता है। उनके बाल नाटकों को पढ़कर स्पष्ट हो जाता है कि वे न केवल बाल मनोविज्ञान को गहराई से समझते हैं, अपितु बच्चे के छोटे से छोटे सुख-दुख को भी करीब से महसूस करते हैं। इसीलिए उनके बाल नाटकों के पात्रों में बड़ी जीवंतता दिखाई देती है।

मनु जी के बाल नाटक इतने जिज्ञासापूर्ण और प्रभावशाली हैं कि बच्चे उनके पात्रों के साथ स्वयं को एकाकार अनुभव करने लगते हैं। बच्चों से जुड़ा कोई विषय बाल नाटकों में आने से रह न जाए, यह कोशिश उन्होंने की है। यही कारण है कि इक्कीसवीं सदी के बाल नाटकों में प्रकाश मनु जी का कद सबसे बड़ा दिखाई देता है।

तितिक्षा श्रीवास्तव, शोधार्थी, सरदार पटेल विश्वविद्यालय, वल्लभ विद्यानगर, आणंद, गुजरात-388120
मो. : 9662028903, ई-मेल : titikshavasava5@gmail.com

✧ ✧ ✧

स्वतंत्र चेता के सर्जक : रामदरश मिश्र

प्रिया कुमारी

'आकाश के छत' उपन्यास का प्रकाशन 1979 में हुआ। इस उपन्यास की रचना रामदरश मिश्र में आत्मकथात्मक शैली में किया है। इस उपन्यास में 'यश' नामक एक पत्र है, जिसके माध्यम से उपन्यासकार ने दिल्ली में आई एक बार और उसमें धीर-धीरे व्यक्तियों तथा उनके सहायता हेतु नाव में विचरण करते लोगों की मानसिकता का विवेचन किया है। इस विवरण के क्रम में मिश्र जी ने सारे परिवेश का यथार्थ चित्रण बिल्कुल सहज शैली में प्रस्तुत की है। इसी क्रम में गाँव-गाँव के लोग रिश्ते आदि का स्वाभाविक चित्रण किया गया है।

इतना ही नहीं मिश्र जी ने अपने उपन्यासों में स्वतंत्रतापूर्ण और स्वातंत्र्योत्तर सामाजिक जीवन का यथार्थ चित्रण किया है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले गाँवों की स्थिति अच्छी नहीं थी। समाज में अनेक-कुप्रथाएँ मौजूद थी। समाज में जाति व्यवस्था, अज्ञानता, दरिद्रता आदि के विरोध में लोग खड़े हो रहे थे। इन सभी मुद्दों को उन्होंने अपनी रचना में बेबाकीपन से उकेरा है।

मूर्धन्य साहित्यकार डॉ. रामदरश मिश्र स्वतंत्र चेतना, बहुमुखी प्रतिभा-संपन्न साहित्यकार हैं। इनकी रचनाओं में युग सापेक्ष दृष्टि, जन-जीवन की आशा-आकांक्षा, उनकी सभ्यता-संस्कृति तथा शाश्वत मूल्य युगीन जीवन के धरातल पर प्रतिष्ठित हुए हैं। रामदरश जी का मानना था कि जन-जीवन का यथार्थ चित्रण साहित्य में आना अनिवार्य हैं। उनकी रचनाओं में गाँव की सादगी, लोक और उनका यथार्थ जीवन-जीवंत हो उठा है। रामदरश मिश्र जी का रचनाकर्म बहुत व्यापक और बहुआयामी है। कविता, उपन्यास, कहानी, यात्रावृत्त, निबंध, संस्मरण, आत्मकथा जैसी अनेक विधाओं में उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा का अंकन हुआ है। उनके लेखन की मूल संवेदना 'मानवीयता' है। उनकी दृश्य सामाजिक यथार्थ के टकराव को महसूस करती है। अतः वे समाज के किसी भी मुद्दे को अनदेखा नहीं करते।

अपनी रचनाओं में गाँव के इसी सच को बसाए रखने वाले प्रखर साहित्यकार डॉ. रामदरश मिश्र कहते हैं- गाँव में सबको पता होता है कि किसके घर में चूल्हा जला, किसके घर में आज चूल्हा नहीं जल सका, किसकी आँखों में आँसू है; इसका पता रहता है। यही मिश्र जी की साहित्यिक दृष्टि है। जो उन्हें विशिष्ट बनाती है। उनके उपन्यास में साहित्य किस रूप में चित्रित हुआ है, यह देखना हमारा अभिप्रेत है।

बीज शब्द : सामाजिक यथार्थ, मानवीयता, गाँव

भूमिका/प्रस्तावना

डॉ. रामदरश मिश्र हिंदी साहित्य के एक ऐसे स्तंभ है, जिनका रचना संसार विभिन्न विधाओं और सैकड़ो पुस्तकों में फैला हुआ है। देश-विदेश के लाखों पाठकों के लेखक उनकी सभी विधाओं में काफी रुचि रखते हैं। रामदरश मिश्र जी का रचनाकर्म बहुत व्यापक और बहुआयामी है। कविता, उपन्यास, कहानी, यात्रावृत्त, निबंध, संस्मरण, आत्मकथा जैसी अनेक विधाओं में उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा का अंकन हुआ है। उनके लेखन की मूल संवेदना 'मानवीयता' है। अतः वे समाज के किसी भी मुद्दे को अनदेखा नहीं करते। उनके उपन्यासों में तत्कालीन भारतीय समाज के सभी आयामों का चित्रण देखने को मिलता है। उनके समूचे उपन्यास पठनीय और रोचक हैं। कथ्य कितना ही गंभीर हो लेकिन उनकी निजी शैली पाठकों को बाँधकर रखने में सक्षम है। समाज के प्रति उनकी सजगता वंचितों के हक के लिए संघर्ष करती दिखती है। यह सच है कि आज साहित्य में गाँव का दखल कम हुआ है, किंतु गाँव और गवई संस्कृति में आज भी अपार रस है। आंचलिक उपन्यास के संबंध में मिश्र जी का कथन है कि 'आंचलिक उपन्यास लिखना मानव हृदय में किसी प्रदेश की कश्म साथी जीवन अनुभूति को वाणी देने का अनिवार्य प्रयास है। आंचलिक कथाकार को युग के जटिल जीवन का बोध नहीं है इसलिए वह आज भी पिछले जनपदों के सरल निश्चल जीवन की ओर भागने में सुगमता अनुभव करता है।'

चाहे वह शहरी जीवन का चित्रण हो अथवा ग्रामीण जीवन का चित्रण हो। मिश्रजी ने अपनी एक निजी शैली का विकास किया है। उनकी शैली सरल, सहज और संप्रेषणीय है। आंचलिक शब्द, कहावत, मुहावरा, लोकगीत आदि का भी उचित उपयोग उनके उपन्यासों में हुआ है। गंभीर कथ्य को पाठकों के दिलो-दिमाग पर उतरवाने में उनकी संरचना का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

'मिश्र जी ग्राम संवेदना के रचनाकार माने जाते है। ग्रामीण जीवन और संस्कृति के प्रति उनके मन में गहरा लगाव व आकर्षण है। बचपन से यौवन तक वे ग्रामीण परिवेश में पले थे। इसलिए उनके उपन्यासों में आँचलिकता की गहरी छाप है।'

मिश्र जी अपनी रचनाओं में एक तरफ गाँव के परिवेश में व्याप्त जीवन के यथार्थ से पाठकों को रू-ब-रू कराते हैं, वही पारिवारिक विघटन और शहरी परिवेश में पले बढ़े पारिवारिक रिश्तों के सत्य को बेझिझक उद्धृत करते हैं। उनकी रचनाओं में लोक संस्कृति और भारतीय जीवन मूल्य के प्रति गहरी आस्था देखने को मिलती है।

मिश्र जी की रचना में पूँजीपतियों का स्वार्थ भोगवादी संस्कृति के प्रति बढ़ता रुझान, मानवता का वंश आदि का चित्र सहज ही देखने को मिलता है। मिश्र जी की कहानियों में एक ओर गाँव का परिवेश व उसके मिट्टी की सोंधी महक है तो दूसरी ओर शहरी परिवेश का आधुनिक स्वरूप। शहरी परिवेश को चित्रित करते हुए मिश्र जी नें मानवीय संबंधों में अनेक

प्रकार के विकृतियों का भी चित्रण किया है। उनकी कहानियों में नई समस्याओं के लिए गहरी चिंता दिखती है। उनके यात्रा वृत्तांत में घटनाओं, दृश्यों, व्यक्तियों और स्थितियों का संश्लिष्ट, बिंब विधान का सुंदर चित्रण मिलता है।

मिश्र जी ने अपने उपन्यासों में ग्रामीण जीवन का विस्तृत विश्लेषण किया है। जैसे :- 'जल-टूटता हुआ' 'पानी के प्राचीर' 'आकाश की छत' 'बीस बरस' आदि उपन्यासों में स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण समाज और उसमें हो रहे परिवर्तन के हर बिंदु का यथार्थ चित्र अंकित हुआ है।

'जल-टूटता' (1969)

'जल टूटता हुआ' का प्रारम्भ स्वतंत्रता दिवस के वर्णन से हुआ है। इसका प्रकाशन सन् 1969 में हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी से हुआ है। यह रामदरश मिश्र जी का अत्यंत प्रसिद्ध आँचलिक उपन्यास हैं। इस उपन्यास में रामदरश मिश्र जी ने गाँव में व्याप्त गरीबी, झूठेपन एवं राजनीति पर गहनता से प्रकाश डाला है। इसके अन्तर्गत एक विशिष्ट भू-भाग तिवारीपुर गाँव के माध्यम से उभरती हुई भारतीय गाँव की अनुभूति की कहानी हैं।

'जल टूटता हुआ' में जनता का विद्रोह प्रकट हुआ है। समाज में आजादी के बाद भी अनेक समस्याएँ - गरीबी की समस्या, अनाज की समस्या, अकाल की समस्या, बेरोजगारी, भूख, जाति-पाति की समस्या, धार्मिकता, अंधविश्वास, रूढियाँ ऐसी अनेक समस्याएँ मौजूद थी, जिसे आजादी के बाद नयी सरकार ने छुआ भी नहीं..... रही जिन पर कोई विचार नहीं किया गया। आजादी के बाद भी उच्चवर्गीय निम्नवर्गीय का शोषण करते रहे, सामान्य जनता आजादी के बाद भी उच्चवर्गीय के जुल्म सहती रही, बीमारी में इलाज के अभाव के कारण लोग मर जाते थे। शहर तक पहुँचने के लिए सड़कों की असुविधा के कारण सवारी नहीं मिलती थी। आजादी के बाद भी नयी सरकार के प्रयत्नों के बावजूद सामान्य जनता को सभी समस्याओं का सामना करना पड़ता है।'

'आकाश की छत' (1979)

'आकाश के छत' उपन्यास का प्रकाशन 1979 में हुआ। इस उपन्यास की रचना रामदरश मिश्र ने आत्मकथात्मक शैली में किया है। इस उपन्यास में 'यश' नामक एक पत्र है, जिसके माध्यम से उपन्यासकार ने दिल्ली में आई एक बार की बाढ़ और उसमें धीर-धीरे व्यक्तियों तथा उनके सहायता हेतु नाव में विचरण करते लोगों की मानसिकता का विवेचन किया है। इस विवरण के क्रम में मिश्र जी ने सारे परिवेश का यथार्थ चित्रण बिल्कुल सहज शैली में प्रस्तुत की है। इसी क्रम में गाँव-गाँव के लोग रिश्ते आदि का स्वाभाविक चित्रण किया गया है।

इतना ही नहीं मिश्र जी ने अपने उपन्यासों में स्वतंत्रतापूर्ण और स्वातंत्र्योत्तर सामाजिक जीवन का यथार्थ चित्रण किया है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले गाँवों की स्थिति अच्छी नहीं थी। समाज में अनेक- कुप्रथाएँ मौजूद थी। समाज में जाति व्यवस्था, अज्ञानता, दरिद्रता आदि के विरोध में लोग खड़े हो रहे थे। इन सभी मुद्दों को उन्होंने अपनी रचना में बेबाकीपन से उकेरा है।

उपसंहार :-

समग्रतः हम कह सकते हैं कि रामदरश मिश्र जी की लेखन शैली और वर्णन कौशल में यह शक्ति है कि उनके चित्रण में गाँव जीवित हो उठता है। उनके उपन्यासों में ग्रामीण जीवन का यथार्थ अपने वास्तविक और स्वाभाविक रूप में दृष्टिगोचर होता है।

मिश्र जी जीवनपर्यंत मूल्यों के लिए संघर्षरत रहे। समाज में शिक्षा की समस्या, नारी समस्या, शोषण, अन्याय, अत्याचार, जनसंख्या, अस्पृश्यता आदि समस्याएँ आए उनकी रचनाओं में गहनता से देखने को मिलती है। किसान लोगों व उनके रहन-सहन और अपने जीवन में आये हुए अनुभव के द्वारा मिश्र जी ने गाँव का यथार्थ चित्रण 'पानी के प्राचीर' और 'जल टूटता हुआ' उपन्यास में प्रस्तुत किया है। अपने गाँव का जीवन नजदीक से देखते रहने से मिश्र जी सामान्य जनता के दुःख दर्द से भली -भाँति परिचित है। उनके उपन्यास के पात्र गाँव छुट जाने के बाद भी गहरे रूप से गाँव से जुड़े होते हैं। गाँव वालों में रूढ़िवादिता से मुक्त होने की छटपटाहट है। शहर में रहकर भी गाँव की स्मृतियाँ बार- बार उनके मानसपटल पर छाई रहती हैं।

जैसा कि रामदरश मिश्र ने स्वयं कहा है कि उनका बचपन गाँव में बीता है। ग्रामीण समाज के सुख-दुख, रहन-सहन, खान-पान, खेत-खलिहान का वास्तविक चरित्र उनके हृदय में अवस्थित है। शहर आ जाने के बाद भी वे गाँव से दूर नहीं हो सके। इसीलिए उनके उपन्यासों में भी ग्रामीण जीवन का सच अपने मूल रूप में चित्रित हुआ है, जो पाठक को ऐसा प्रतीत कराता है कि वह ग्रामीण संस्कृति से एकात्म स्थापित कर लिया हो। कल्पना के आधार पर जो लोग ग्राम्य जीवन का चित्रण करते हैं, वह गाँव के सहज, साधारण जन-मन को उसके स्वाभाविक रूप में नहीं उतार पाते हैं। पर मिश्र जी की रचनाएँ अपनी भाषा कौशल से सहज ही पाठकों को अपनी ओर आकर्षित करती है।

संदर्भ संकेत :-

1. हिन्दी उपन्यास एक अंतर यात्रा/रामदरश मिश्र/राजकमल प्रकाशन/पृष्ठ 234 (तृतीय संस्करण)
2. रामदरश मिश्र के उपन्यास एक विश्लेषणात्मक अध्ययन, कोच्चि विश्वविद्यालय विनोद बाबू के.वी.
3. http://ir-unishivaji-ac-in:8080/jspui/bitstream/ 123456789/2498/9/09_Chapter%206.pdf

प्रिया कुमारी, शोधार्थी, हिन्दी विभाग, वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय

✧ ✧ ✧

हिंदी बाल साहित्य का इतिहास- एक रोचक और महत्त्वपूर्ण पुस्तक

सोना शर्मा

आजादी से पहले की कहानियाँ अधिकतर लोक कथाओं पर आधारित थीं, जिनमें बच्चों के लिए नीति, शिक्षा व चरित्र निर्माण का स्वर अधिक मुखर था। जयशंकर प्रसाद की 'बालक चंद्रगुप्त' में चंद्रगुप्त की बुद्धिमत्ता और विलक्षणता को दर्शाया गया है, तो 'निराला' जी की 'सीख भरी कहानियाँ' में ईसप की चर्चित कहानियों को सहज भाव शिल्प के साथ बच्चों के लिए प्रस्तुत किया गया है। प्रेमचंद की 'जंगल की कहानियाँ' में भी अत्यंत रोचक कहानियाँ संगृहीत हैं। इनमें 'शेर और लड़का', 'गुब्बारे पर चीता' आदि कहानियों में मुसीबत में फँसे बच्चे कैसे अपनी सूझ-बूझ से बचते हैं, इसका रोचक वर्णन है। प्रेमचंद की कहानियों के कई संग्रह समय-समय पर छपे हैं। उनकी 'दो बैलों की जोड़ी', 'गुल्ली-डंडा', 'बड़े भाईसाहब', 'ईदगाह', 'बूढ़ी काकी' जैसी कहानियाँ भले ही बड़ों के लिए लिखी गई हैं, लेकिन बच्चे उन्हें बहुत पसंद करते हैं।

'हिंदी बाल साहित्य का इतिहास' एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण और पठनीय पुस्तक है। इसमें इतनी शोधपरक नई-नई जानकारियाँ हैं, जिन्हें जानकर सुखद आश्चर्य होता है। प्रकाश मनु जी ने लगभग बीस वर्ष तक अथक परिश्रम करके इस पुस्तक को बहुत मनोयोग से तैयार किया है। इस इतिहास-ग्रंथ में सन् 1900 से लेकर अब तक, यानी सौ वर्षों से अधिक समय, के बाल साहित्य को तीन हिस्सों में बाँटा गया है। पहला : प्रारंभिक युग (1901 से 1947 तक), दूसरा : गौरव युग (1947 से 1980 तक) और तीसरा : विकास युग (1980 से अब तक)। पुस्तक को पढ़ते हुए महसूस होता है, जैसे हम रंग-बिरंगे सुगंधित फूलों से भरे सुंदर उद्यान की सैर कर रहे हों। मजे की बात यह कि इस विशाल उद्यान की सैर करते हुए हम जरा भी नहीं थकते। हमेशा लगता रहता है कि चलो, जरा और आगे बढ़कर देखें, आगे और क्या-क्या है! एक कुशल माली की तरह प्रकाश मनु जी ने घास-कूड़ा हटा कर अच्छे और सार्थक बाल साहित्य की रचनाओं से इस उद्यान को सजाया-सँवारा है। तो चलिए, पहले चलते हैं इस उद्यान के उस हिस्से में, जहाँ कविताओं के फूल खिलें हैं।

कविताओं के गुलदस्ते की खुशबू

प्रकाश मनु जी ने बाल कविताओं के बारे में लिखा है, "हिंदी बाल कविता में भारतीयता का गहरा रंग है। यहाँ पारिवारिक

रिश्ते और कोमल भावनाएँ बहुत सादगी और सहजता से बालमन को छूती हैं। आजादी के पहले के चरण में राष्ट्रप्रेम और चरित्र निर्माण की भावना कविताओं में अधिक है लेकिन अच्छी बात यह है कि इसमें सहजता है, उपदेशात्मकता नहीं है।" बाल साहित्य की नींव रखने वाले कवियों में अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। उनकी 'एक बूँद' कविता को प्रकाश मनु जी ने इसे एक ऐसी यादगार कविता माना है, जिसकी संरचना 'क्रिस्टल स्ट्रक्चर' जैसी लगती है, जिसमें न एक शब्द आप कहीं जोड़ सकते हैं, न घटा सकते हैं। 'हरिऔध' जी की बाल कविताओं के संकलन है- 'बाल विभव', 'बाल विलास', 'चंद्र-खिलौना', 'खेल-तमाशा' आदि। शिशुगीतों में रामनरेश त्रिपाठी की नटखट कविता 'नंदू की छींक' को भुलाया नहीं जा सकता। छह पंक्तियों का 'नंदू की छींक' शिशुगीत कुछ इस तरह है, ''आई एक छींक नंदू को / एक रोज वह इतना छींका / इतना छींका... / सब पत्ते गिर गए पेड़ के / धोखा हुआ उन्हें आँधी का।''

आजादी से पहले के जिन कवियों ने बहुत अच्छी बाल कविताएँ लिखीं, उनमें विद्याभूषण विभु, 'स्वर्णसहोदर', गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश', रमापति शुक्ल और रामेश्वरदयाल दुबे के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें रमापति शुक्ल तो बच्चों की स्वतंत्रता के इतने पक्षधर थे कि उन्होंने सोचा, क्यों न बच्चों को घूरने वाली निगाहों और डाँट-फटकार को एक संदूक में बंद करके समंदर में बहा दिया जाए। बेशक, जब बच्चे स्वतंत्र होंगे तभी तो उनका बेहतर विकास होगा।

सुप्रसिद्ध कवयित्री सुभद्रा कुमारी चौहान ने भी बच्चों के लिए बहुत प्यारी कविताएँ लिखी हैं, जैसे ''मैं बचपन को बुला रही थी, बोल उठी बिटिया मेरी, नंदन वन सी फूल उठी वह छोटी-सी कुटिया मेरी।'' इसी तरह उनकी 'यह कदंब का पेड़' भी माँ और बच्चे के मधुर संबंध की मीठी महक लिए हुए है। सुभद्राकुमारी चौहान की 'झाँसी की रानी' कविता बच्चे ही नहीं, बड़ों में भी बहुत लोकप्रिय रही है, ''बुंदेले हरवोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी, खूब लड़ी मर्दानी, वह तो झाँसी वाली रानी थी।'' 'कोयल' और 'सभा का खेल' सुभद्रा जी की बाल कविताओं के महत्त्वपूर्ण संग्रह हैं।

इस युग के मूर्धन्य कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' की कविता 'चाँद का कुरता' भी बहुत अच्छी कविता है। इसके बारे में मनु जी ने लिखा है, ''दिनकर जी की यह कविता पढ़कर लगता है मानों चाँद के घटने-बढ़ने को ही नहीं, सन-सन हवाओं और ठिठुरती सर्दियों में उसके निपट एकाकी सफर को भी जैसे आँखों के आगे साकार कर दिया गया हो।'' 'धूप-छाँह', 'सूरज का ब्याह' 'मिर्च का मजा' दिनकर जी की कविताओं के चर्चित संग्रह हैं। इस दौर के कवि माखनलाल चतुर्वेदी की कविता 'एक फूल की चाह' को आज भी पाठ्य पुस्तकों में स्थान प्राप्त है। इसी तरह राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन की 'बंदर सभा' भी एक लंबी कविता है, जिसे उसके छंद-कौशल और रोचक वृत्तांत के कारण याद किया जाता है।

प्रकाश मनु जी की इस पुस्तक से हमें यह भी ज्ञात होता है कि बचपन से स्कूलों में जिस प्रार्थना को गा-गाकर हम बड़े हुए हैं, 'वह शक्ति हमें दो दयानिधे, कर्तव्य मार्ग पर डट जाएँ...' वह इसी कालखंड के यशस्वी कवि मुरारी लाल शर्मा 'बालबंधु' की लिखी हुई है। इतना ही नहीं, आज शायद ही किसी को मालूम होगा कि वीरता और देशभक्ति का जोश जगाने वाले अमर गीत, 'विजयी विश्व तिरंगा प्यारा, झंडा ऊँचा रहे हमारा' के रचयिता कौन हैं। इसके रचयिता हैं श्यामलाल पार्षद जी, जिन्होंने पूरे देश में जागृति लाने वाला यह निराला गीत लिखा।

हिंदी बाल कविता के गौरव युग (1947 से 1980 तक) में बच्चों के सामाजिक-सांस्कृतिक विकास की ओर ज्यादा ध्यान दिया गया। इय युग के अनेक कवियों के साथ जिन प्रमुख कवियों का विशेष रूप से पुस्तक में उल्लेख किया गया है, वे हैं- दामोदर अग्रवाल, सूर्यभानु गुप्त, डॉ. शेरजंग गर्ग, डॉ. श्रीप्रसाद, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, बाल स्वरूप राही, योगेंद्र कुमार लल्ला, कन्हैया लाल मत्त, प्रयाग शुक्ल आदि। इनमें दामोदर अग्रवाल की बाल कविताएँ अपने समय की जरूरतों और मुश्किलों से जुड़ी होने के साथ ही अपनी भाषा और लय में भी बेजोड़ है। दामोदर अग्रवाल जी के संचयन 'बच्चों की 101 कविताएँ' (संपादक : प्रकाश मनु) में उनकी सुंदर और उत्कृष्ट कविताएँ मौजूद हैं।

हिंदी बाल कविता के शीर्षस्थ कवि हैं डॉ. शेरजंग गर्ग। मनु जी के शब्दों में, "उनके पास बड़ी चुस्त, बड़ी ही समृद्ध भाषा है और बात कहने का अपना ढंग और मुहावरा है।" डॉ. शेरजंग गर्ग की नए साल पर लिखी इस कविता में कितना उल्लास और नयापन है। वे लिखते हैं, "नए साल में ताजे सुंदर फूल खिलेंगे नए साल में नए-पुराने मित्र मिलेंगे। नए साल में भैया-दीदी खूब पढ़ेंगे।" और यह भी कि "स्वस्थ रहेंगी प्यारी दादी नए साल में, गुड़िया की भी होगी शादी नए साल में।" डॉ. शेरजंग गर्ग की बाल कविताओं के लगभग एक दर्जन संग्रह प्रकाशित हुए हैं। इनमें बच्चों के लिए लिखे गए सुंदर गीतों और कविताओं का खजाना भरा है।

इसी तरह भला कौन भुला सकता है सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की कविता 'बतूता का जूता' को। उन्हें आदर से याद करते हुए मनु जी ने लिखा है, "उनकी बाल कविता को दूर से भी देखकर आप कहेंगे, यह सिर्फ सर्वेश्वर ही लिख सकते हैं।" कविता की बानगी देखिए -

इब्न बतूता पहन के जूता निकल पड़े तूफान में,
थोड़ी हवा नाक में घुस गई, घुस गई थोड़ी कान में।
कभी नाक को, कभी कान को मलते इब्न बतूता
इसी बीच में निकल पड़ा उनके पैरों का जूता।
उड़ते-उड़ते जूता उनका जा पहुँचा जापान में,
इब्न बतूता खड़े रह गए मोची की दुकान में।

ऐसे ही बालस्वरूप राही के विषय में मनु जी ने लिखा है कि उनकी भाषा इतनी सजीव है कि वह रचना के जरिए मन में एक मुकम्मल चित्र-सा बना देती है। इस बात की तसदीक करती हैं

उनकी कविताएँ 'चंदा मामा', 'ऊँट बड़े तुम ऊँटपटाँग', 'जब हम होंगे बड़े' आदि। पारंपरिक विषयों पर मजेदार भावपूर्ण कविताएँ लिखने वाले कन्हैयालाल मत्त की कलम भी बच्चों को खूब गुदगुदाती है। उनकी कविता 'फूल-फालकर' की बानगी देखिए, "आटे-बाटे दही पटाके, सोलह-सोलह सबने डाटे/डाट-डूटकर चले बाजार, पहुँचे सात समंदर पार...!" और आगे क्या हुआ? आप पूछेंगे, तो होना क्या था, बस हुआ यह कि- "फूल फालकर गाए गीत, बंदर आए लंका जीत/जीत-जात की मिली बधाई, भर-भर पेट मिठाई खाई।"

इस प्रकार की मनोरंजक कविताओं से आगे बढ़ते हुए विकास युग (1980 से अब तक) में नए और जरा गंभीर विषयों पर कवियों की नजर गई, जैसे बच्चे का भारी बस्ता, महँगाई, भ्रष्टाचार, अनाचार, प्रदूषण, ऊँच-नीच, गरीबी आदि। इस दौर के प्रतिनिधि बाल कवि हैं- रमेश तैलंग, दिविक रमेश, प्रकाश मनु, योगेंद्र दत्त शर्मा, श्याम सुशील आदि। रमेश तैलंग जी की खासियत यह है कि वे लीक से हटकर, नए शिल्प की कविताएँ लिखते हैं, जो बच्चों के मन को छूती हैं। उनकी बाल कविताओं के आठ संग्रह प्रकाशित हुए हैं। दिविक रमेश जी की कविताओं में समकालीन भावबोध है। उनकी कविता 'घर' में एक ओर जहाँ माँ की गोद जैसे सुकून से भरे घर के महत्त्व को रेखांकित किया गया है, वहीं दूसरी ओर उन बच्चों की पीड़ा का भी जिक्र है, जिनके पास घर नहीं है। दिविक रमेश जी के 'एक सौ एक बाल कविताएँ' संग्रह में उनकी सभी चुनिंदा बाल कविताएँ हैं।

लीक से हटकर लिखी गई प्रकाश मनु जी की कविताएँ बच्चों के मन, इच्छा-संसार और सपनों से सीधे-सीधे जुड़ती हैं। कितनी सहजता और सादगी है इन पंक्तियों में, ''चिड़िया रानी शॉपिंग करने जाने लगी बाजार, / लिस्ट सँभाली, पर्स उठाया होकर के तैयार। / छोटे से उनके बटुए में पैंसे थे कुल तीन,/चीनी, चावल, घी लाना था औ' मुन्ने की बीन।'' प्रकाश मनु जी के 'इक्यावन बाल कविताएँ', 'बच्चों की 101 कविताएँ', और 'बच्चों की अनोखी हास्य कविताएँ' बहुचर्चित संग्रह हैं। हाल ही में उनकी चुनिंदा बाल कविताओं का संचयन 'प्रकाश मनु की बाल कविताएँ' छपा है। उन्होंने बच्चों के लिए गीत-पहेलियाँ भी लिखी हैं, जो 'बच्चों की 101 गीत-पहेलियाँ' में संगृहीत हैं।

पुस्तक में प्रकाश मनु जी ने श्याम सुशील, जहीर कुरैशी, राम सेवक शर्मा, भैरूँलाल गर्ग, विनोद भृंग, शंभुनाथ तिवारी, उषा यादव, पद्मा चौंगांवकर, रेनू चौहान आादि की बाल कविताओं पर भी विस्तार से प्रकाश डाला है। उन्होंने स्थापित और चर्चित कवियों की विशेषताओं के साथ ही बिल्कुल नए कवियों की कलम की संभावनाओं को भी खोज निकाला है। 400 से अधिक बाल कवियों की कविताओं की पड़ताल कर पाना प्रकाश मनु जैसे सिद्धहस्त और समर्पित साधक के बस की बात ही है।

मनमोहक कहानियों का उपहार

अब चलते हैं उद्यान के दूसरे हिस्से में, जहाँ बाल कहानियों के पुष्प खिले हैं। सुंदर, आकर्षक, मनोरम भाँति-भाँति के पुष्प। यदि हम कहें कि बचपन में पढ़ी-सुनी कहानियों की पटकथा पर ही जिंदगी की फिल्म तैयार होती है, तो शायद बहुत गलत नहीं होगा। छत्रपति शिवाजी को महान वीर तेजस्वी उन वीरतापूर्ण कहानियों ने ही बनाया था, जो माँ जीजाबाई से उन्होंने बचपन में सुनी थीं।

आजादी से पहले की कहानियाँ अधिकतर लोक कथाओं पर आधारित थीं, जिनमें बच्चों के लिए नीति, शिक्षा व चरित्र निर्माण का स्वर अधिक मुखर था। जयशंकर प्रसाद की 'बालक चंद्रगुप्त' में चंद्रगुप्त की बुद्धिमत्ता और विलक्षणता को दर्शाया गया है, तो 'निराला' जी की 'सीख भरी कहानियाँ' में ईसप की चर्चित कहानियों को सहज भाव शिल्प के साथ बच्चों के लिए प्रस्तुत किया गया है। प्रेमचंद की 'जंगल की कहानियाँ' में भी अत्यंत रोचक कहानियाँ संगृहीत हैं। इनमें 'शेर और लड़का', 'गुब्बारे पर चीता' आदि कहानियों में मुसीबत में फँसे बच्चे कैसे अपनी सूझ-बूझ से बचते हैं, इसका रोचक वर्णन है। प्रेमचंद की कहानियों के कई संग्रह समय-समय पर छपे हैं। उनकी 'दो बैलों की जोड़ी', 'गुल्ली-डंडा', 'बड़े भाईसाहब', 'ईदगाह', 'बूढ़ी काकी' जैसी कहानियाँ भले ही बड़ों के लिए लिखी गई हैं, लेकिन बच्चे उन्हें बहुत पसंद करते हैं।

रामनरेश त्रिपाठी और रामवृक्ष बेनीपुरी ने भी बच्चों के लिए सुंदर कहानियाँ लिखी हैं। रामनरेश त्रिपाठी की 'बाल कथा-कहानी' पुस्तक दस खंडों में है, जो अपने आप में एक मील का पत्थर है। रामवृक्ष बेनीपुरी की कहानियाँ बच्चों का भरपूर मनोरंजन करने के साथ ही उनमें कुछ नया करने का जज़्बा भी जगाती हैं। 'हीरामन तोता', 'लाल बुझक्कड़', 'दिनों की कहानी' आदि उनकी बहुचर्चित और रोचक कहानियाँ हैं। यह जानकर सुखद आश्चर्य होता है कि श्रीनाथ सिंह ने 'परीदेश' शीर्षक से जो सुंदर परीकथाएँ लिखीं, उन्हें उन्होंने छोटे बच्चों के बीच बैठक उनकी मदद से लिखा है। है न कितना सुंदर और अनूठा प्रयोग! जहूरबख्श भी इस दौर के बड़े कथाकार हैं। उनकी कहानी 'पागल है' में बड़े प्रभावी तरीके से बताया गया है कि जनता कैसे अयोग्य और चापलूसी पसंद राजा को सबक सिखाती है।

बाल कथा साहित्य के प्रारंभिक युग का मंथन करते हुए प्रकाश मनु जी ने लिखा है ''इस दौर की कहानियों में एक ओर बच्चों की रुचि और मनोरंजन के अनुकूल परीकथाएँ और हास्य-विनोद से भरी कहानियाँ लिखी गईं तो दूसरी ओर ऐतिहासिक, पौराणिक और यथार्थपरक कहानियाँ भी लिखी गईं, जो खेल-खेल में बच्चों को सीख देते हुए उनके व्यक्तित्व निर्माण में सहायक रही हैं।''

इसी क्रम में इस विधा का दूसरा दौर सबसे अधिक समृद्ध रहा। सही में यह बाल कहानी-यात्रा का गौरव युग है। प्रकाश मनु जी ने इस कालखंड के रचनाकारों की यादगार

कहानियों का विवरण पूरे विस्तार से प्रस्तुत किया है। यहाँ सभी का उल्लेख करना तो संभव नहीं है, फिर भी इस युग के प्रमुख कहानीकारों अमृतलाल नागर, कमलेश्वर, शैलेश मटियानी, विष्णु प्रभाकर आदि की कुछ कहानियों के उल्लेख मात्र से यह अंदाजा लगाया जा सकता है कि दिग्गज कहानीकारों ने बच्चों के लिए कैसी अद्‌भुत कहानियाँ लिखी हैं।

अमृतलाल नागर जी की बाल कहानियों में गजब का आकर्षण और किस्सागोई है। इनमें 'अंतरिक्ष सूट में बंदर', 'अमृतलाल नागर बैंक लिमिटेड तथा 'लिटिल रेड इंजिपशियन' तो खासी दिलचस्प हैं। 'अमृत लाल नागर बैंक लिमिटेड' में छोटे-छोटे बच्चे अपने आत्म सम्मान को बचाने के लिए कोई बड़ा काम करने का फैसला लेते हैं। बड़ा काम वह यह करते हैं कि एक बैंक खोल लेते हैं। अब ऐसे समझदार बच्चों को बात-बात में डाँटने से पहले टीचर और बड़ों को कम से कम दो बार सोचना ही पड़ेगा! मगर फिर एक मुश्किल आ गई। ये उत्साही बच्चे बैंक खोल तो लेते हैं, लेकिन इनके आपसी झमेले ऐसे उलझ जाते हैं कि आखिर उन्हें बैंक बंद करना पड़ता है। इसी तरह कमलेश्वर जी का 'होताम के कारनामे' में होताम हातिमताई की तरह करिश्माई तो है, लेकिन आज की दुनिया में बेचारा इतना विवश है कि राजू का होमवर्क तक नहीं करवा पाता। उसे लगता है कि आज के जमाने में वह 'अनफिट' है।

राजेंद्र यादव, मन्नू भंडारी, मोहन राकेश, भीष्म सहानी ने भी बच्चों के लिए कहानियाँ लिखी हैं। राजेंद्र यादव की 'परी नहीं मरती', 'घर की तलाश', 'जय गंगे', 'कलाकार' आदि कहानियाँ खेल-खेल में बहुत कुछ कह जाती हैं। मोहन राकेश की 'गिरगिट का सपना', 'बिना हाड़-मांस का आदमी' आदि दिलचस्प कहानियाँ हैं। मन्नू भंडारी की बाल कहानियों के संग्रह 'आँखों देखा झूठ' में आठ कहानियाँ हैं। भीष्म सहानी की 'गुलेल का खेल', 'अनोखी हड्डी' और 'वापसी' भी बच्चों के मन को छूने वाली कहानियाँ हैं। शैलेश मटियानी के बाल कहानी-संग्रह 'बिल्ली के बच्चे' तथा 'छोटी मछली, बड़ी मछली' की कहानियाँ में उनका अलग अंदाज नजर आता है। उनकी 'धनुष-यज्ञ' कहानी में रामलीला के मैनेजर ख्यालीराम और बाँकेराम साहजी के घराने की पुश्तैनी दुश्मनी रामलीला नाटक में एक और अंदरूनी नाटक को जन्म देती है। इधर जनता 'सियावर रामचंद की जय' बोलने को उतावली है और उधर शिवजी का धनुष टूट ही नहीं रहा है। है न बड़ा हास्यप्रद प्रसंग!

इस्मत चुगताई की 'कामचोर' कहानी में महा आलसी बच्चों को जब अलग-अलग काम बाँट दिए जाते हैं तो आपसी होड़ में वे ऐसी तूफानी तेजी और धमाचौकड़ी मचाते हैं कि तौबा-तौबा! प्रकाश मनु जी ने सार्थक और रोचक कहानियों, उनके कथा-शिल्प, भाषा-शैली और रचना-कौशल पर प्रकाश डालते हुए इस युग के सभी कथाकारों की विस्तार से चर्चा की है। इनमें प्रमुख हैं- शकुंतला सिरोठिया, शीला गुजराल, आलमशाह खान, हरिशंकर परसाई, रघुबीर सहाय, शशिप्रभा शास्त्री, आनंद प्रकाश जैन, महीप सिंह, द्रोणवीर कोहली, हिमांशु जोशी आदि।

प्रकाश मनु जी ने बताया है कि विष्णु प्रभाकर जी के 'खोया हुआ रतन' और 'घमंड का फल' संग्रहों में किशोरों के लिए उपयोगी कुछ ऐसी पौराणिक और ऐतिहासिक कथाएँ हैं, जिन्हें पढ़ते हुए "बड़े कथाकार की कलम के जादूई स्पर्श की अनुभूति होती है।" मन्मथनाथ गुप्त ने भी लीक से हटकर बाल कहानियाँ लिखी हैं, जो खेल-खेल में कोई बड़ी बात कहती हैं। 'ज्ञानी चूहा' संग्रह में उनकी दस चुनी हुई कहानियाँ शामिल हैं। मस्तराम कपूर भी एक प्रतिनिधि बाल कथाकार हैं। 'बाल कथा-निधि' में उनकी सैंतालीस कहानियाँ हैं, जो मनु जी के शब्दों में 'विविधता और उपलब्धियों के लिहाज से पूरे बाल कथा-लेखन को प्रभावित करती हैं।'

इसी प्रकार जयप्रकाश भारती, हरिकृष्ण देवसरे, विभा देवसरे, यादवेंद्र शर्मा 'चंद्र', कन्हैया लाल नंदन, के.पी.सक्सेना आदि की कहानियाँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें हास्य-विनोद, साहसिक यात्राएँ, लोक कथाएँ, आधुनिक सोच जैसे न जाने कितने रंग और छटाएँ मौजूद हैं। संक्षेप में कहें तो इस युग की कहानियाँ बच्चों के मन को समझने और उसे पूरी तरह खोलने की कोशिश करती नजर आती हैं। इन कहानियों में बाल मनोभावों और आत्मीयता का रंग काफी गाढ़ा है।

बाल कहानी के विकास युग में कई कहानीकारों की कहानियों के आकर्षक संग्रह प्रकाशित हुए हैं। आत्माराम एंड संस से प्रकाशित 'मेरी इक्यावन बाल कहानियाँ' सीरीज तथा इंद्रप्रस्थ प्रकाशन की 'मेरी प्रिय बाल कहानियाँ' पुस्तक-शृंखला बहुत चर्चित रही हैं। विकास युग की कहानियों की खासियत यह है कि इनमें बच्चे के मनोभावों तथा जिज्ञासा, क्रोध, सपने, संकल्प आदि को साफ-साफ देखा, जाना और प्रस्तुत किया गया है। इन कहानियों की यथार्थपरकता और साफगोई आकर्षित करती है। इस युग के प्रतिनिधि कहानीकार हैं- देवेंद्र कुमार, अमर गोस्वामी, प्रकाश मनु, क्षमा शर्मा, शकुंतला कालरा, डॉ. सुनीता, रेनू चौहान, मंजुरानी जैन, मो. अरशद, विनायक आदि।

देवेंद्र कुमार की 'कितनी गहरी नींव', 'कबूतरों वाली हवेली', 'रिक्शा डॉक्टर' आदि नए अंदाज की यादगार कहानियाँ हैं। कथाकार विनायक की कहानियाँ प्रकृति, वन्य जीवों और पर्यावरण से जुड़ी हैं। 'छोटा गाँधी' भी उनकी एक अविस्मरणीय कहानी है, जिसके अंत में हेडमास्टर साहब एक सीधे-सादे बच्चे में गाँधी के चरित्र को पाकर कहते हैं, "इस स्कूल में हमने हजारों साक्षर पैदा किए, आज एक इनसान भी पैदा किया है।" अमर गोस्वामी की कहानियों में नाटकीयता और नटखटपन है, जो बच्चों को सहज ही आकर्षित करता है। उनकी पशु-पक्षियों पर लिखी कहानियों में पूरी जीवंतता है। 'टुन्नी मछली', 'शेरसिंह का चश्मा', 'भालू का घर', 'जंगल में घड़ी' जैसी उनकी सभी कहानियाँ कथानक और भाषा की दृष्टि से बेजोड़ हैं। राष्ट्रीय पुस्तक न्यास ने 'अमर गोस्वामी की चुनिंदा बाल कहानियाँ' शीर्षक से उनकी दस श्रेष्ठ कहानियों का संग्रह प्रकाशित किया है।

प्रकाश मनु जी ने स्वयं बच्चों के लिए इतना लिखा है, जिसकी थाह पाना मुश्किल है। उनकी कहानियों में बच्चों की सादगी, सहजता, शरारतें, मनमौजीपन के साथ ही जीवंतता, संघर्ष, सीखने की इच्छा और उनकी सतरंगी दुनिया की बहुआयामी छवियाँ मौजूद हैं। बच्चे उनकी पुस्तकें एक-दूसरे से माँगकर पूरी तन्मयता के साथ पढ़ते हैं। ये पुस्तकें बच्चों को ही नहीं, बड़ों को भी ये खासी प्रभावित करती हैं। उनकी 'नंदू की छींक', 'झटपट सिंह', 'मिठाई लाल', 'होली है भई होली है' हास्य के रंग से सराबोर कहानियाँ हैं। 'तुम भी पढ़ोगे जस्सू', 'माँ का प्यार' और 'रहमान चाचा' बच्चों की तरह-तरह की परेशानियों, तकलीफों और उनसे जूझने की बात कहती हैं। इसके अलावा 'तितली का घर', 'चींटी चढ़ी पहाड़ पर', 'चिड़ियाघर में चुनमुन', 'शेर गिरा धड़ाम' आदि कहानियाँ पशु-पक्षियों के संसार से बच्चों को इस तरह जोड़ती हैं कि उसका मन उल्लास से भर उठता है। 'लो चला पेड़ आकाश में' और 'मंगल ग्रह की लाल चिड़िया' उनके द्वारा रचित रोचक विज्ञान कथाएँ हैं। प्रकाश मनु जी की बाल कहानियों के प्रमुख संग्रह हैं- 'इक्यावन बाल कहानियाँ', 'भुलक्कड़ पापा', 'चिन-चिन चूँ', 'लो चला पेड़ आकाश में', 'नटखट नंदू की कहानियाँ', 'अजब अनोखी विज्ञान कथाएँ', मेले में ठिनठिनलाल', 'करामातीलाल की तलवार' आदि। इन संग्रहों की कहानियों में फंतासी, किस्सागोई, हास्य-विनोद, विज्ञान लोक आदि के विविध रंग मौजूद हैं।

इस युग की महिला बाल कहानीकारों का भी विस्तार से पुस्तक में जिक्र किया गया है। इनकी कहानियों का गहन अवलोकन करते हुए प्रकाश मनु जी यह स्पष्ट करते हैं कि किस प्रकार क्षमा शर्मा की कहानियों में उनके बचपन और निजता की झलक मिलती है, तो डॉ. शंकुतला कालरा की कहानियों में विविधता और विस्तार है। मंजुरानी जैन की कहानियों में किस्सागोई का रस है, तो सरोजनी प्रीतम ने लीक से हटकर हास्य-विनोदपूर्ण कहानियाँ लिखी हैं। डॉ. सुनीता की कहानियाँ चाहे ग्रामीण परिवेश से जुड़ी हों या शहरी पृष्ठभूमि वाली, उनमें गरीब, अभावग्रस्त बच्चों की खुद्दारी और मेहनत को रेखांकित किया गया है। 'वह मासूम बच्चा', 'गरीब घर की रानी', 'किस्सा एक मासूम चोरी का' आदि मानवीय करुणा से उपजी उनकी ऐसी कहानियाँ हैं, जिनकी अनुगूँज देर तक सुनाई देती है। उनकी कहानियों के छह से अधिक कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जो बहुचर्चित रहे हैं।

इस दौर के कहानीकारों में अपने समय और बच्चों की दुनिया की छोटी-बड़ी समस्याओं के प्रति संवेदनशीलता अधिक है। पंकज चतुर्वेदी की 'बेलगाम घोड़ा' में विषय विज्ञान कथा का है, लेकिन बात कहने का अंदाज परीकथा जैसा दिलचस्प है। प्रहलाद श्रीमाली के 'इनसानियत का फल देने वाले पेड़' में बाहर से अधिक भीतर के पर्यावरण की चिंता की गई है, क्योंकि "यदि यह बिगड़ा तो कुछ भी नहीं बचेगा।" इसी तरह मो. अरशद की 'किराए का मकान' और 'पानी-पानी रे' बिल्कुल अलग ढंग की कहानियाँ हैं, जो आज की समस्याओं को केंद्र में रखकर लिखी गई हैं। मुकेश नौटियाल की 'बहुत कठिन है डगर' कहानी में बच्चे के सिर पर

लाद दिए गए पढ़ाई के बोझ और उसके नीचे दबे रहने की उसकी पीड़ा की मार्मिक अभिव्यंजना है। इतना ही नहीं विष्णु प्रसाद चतुर्वेदी, जाकिर अली 'रजनीश', हरिकृष्ण देवसरे, देवेंद्र मेवाड़ी, रमाशंकर आदि ने बच्चों के लिए सुंदर विज्ञान कथाएँ लिखी हैं, जो खेल-खेल में विज्ञान लोक की सैर कराते हुए विज्ञान सिद्धांतों के परिचित कराती हैं।

प्रकाश मनु जी ने पुस्तक में नए-पुराने लगभग सभी समर्थ कहानीकारों की कहानियों के सागर में से ऐसे मोती चुनकर पाठकों के सामने रखे हैं, जिन्हें जानने से बाल कथा-साहित्य की समृद्धि का अंदाज लगाया जा सकता है। नया और सार्थक लिखने वाला कोई भी लेखक मनु जी की पारखी निगाह से छूटा नहीं है।

बाल उपन्यासों का अद्‌भुत संसार

आजादी से पहले यद्यपि बाल उपन्यास बहुत कम लिखे गए, लेकिन हिंदी में रूपांतरित 'रॉबिन्सन क्रूसो', 'सिंदबाद जहाजी', 'अलीबाबा चालीस चोर' जैसी कृतियाँ बहुपठित और बहुचर्चित रहीं। हिंदी में पहला बाल उपन्यास प्रेमचंद का 'कुत्ते की कहानी' है। इस उपन्यास में बताया गया है कि सारे ऐशो - आराम और मान-सम्मान के बावजूद यदि गले में गुलामी का पट्टा बँधा हो तो आदमी तो दूर, कुत्ता भी खुश नहीं रह सकता। यह उपन्यास बताता है कि असली सुख आजादी में ही है, गुलामी तो नरक का द्वार है। भूपनारायण दीक्षित का 'खड़-खड़देव' एक मनोरंजक उपन्यास है, जिसमें होली के अवसर पर शरारती बच्चे एक गधे के गले में टीन का खाली कनस्टर बाँधकर उसे जंगल में छोड़ देते हैं। कनस्तर की आवाज से भयभीत गधा बदहवास होकर भागता फिरता है। जंगल के जानवर व पशु-पक्षी उसे कोई बला समझकर भयभीत हो जाते हैं। इसी तरह अमृत लाल नागर का उपन्यास 'बजरंगी-नौरंगी' भी एक दिलचस्प और जिंदादिली से भरपूर उपन्यास है।

इस दौर के अनेक दिलचस्प उपन्यासों के बारे में इस पुस्तक से ऐसी जानकारियाँ मिलती हैं कि इन उपन्यासों को खोजकर पढ़ने को मन लालायित हो उठता है। बच्चे भी इन्हें पढ़कर आनंद से भर उठेंगे। भगवतशरण उपाध्याय का उड़ीसा के मछुआरों के जीवन पर लिखा 'सागर का घोड़ा', सौरमंडल के रहस्यों से परिचित कराने वाला मनोहर श्याम जोशी का 'आओ करें चाँद की सैर', रजिया सज्जाद 'जहीर' का 'नेहरू चाचा का भतीजा', मन्नू भंडारी का 'आस-माता', द्रोणवीर कोहली का 'टप्पर गाड़ी' और 'करामाती कद्दू', आबिद सुरती का 'बहत्तर साल का बच्चा' और 'नवाब रँगीले' ऐसे ही मनोरंजक उपन्यास हैं।

प्रकाश मनु जी के अनुसार उपन्यास-यात्रा के इस प्रारंभिक दौर के बाल उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता उनकी कलात्मक पूर्णता और विविधता है। उन्होंने लिखा है कि, "इस दौर में एक ओर ऐसे उपन्यास लिखे गए, जिनमें मौजूदा यथार्थ जीवन और उसमें बच्चे की मुश्किलों की चर्चा थी, तो दूसरी ओर ऐतिहासिक कथानकों और इतिहास प्रसिद्ध पात्रों को बाल उपन्यासों के जरिए सामने लाने वाले उपन्यासों की भी बेहद सशक्त और दमदार धारा दिखाई पड़ती है।" इस

दौर के प्रतिनिधि उपन्यासकार हैं- आनंद प्रकाश जैन, सत्यप्रकाश अग्रवाल, मस्तराम कपूर, हरिकृष्ण देवसरे आदि। इन सभी रचनाकारों की उत्कृष्ट रचनाओं की इस पुस्तक में विस्तार से चर्चा की गई है।

सत्यप्रकाश अग्रवाल के बाल उपन्यास 'एक डर पाँच निडर' में एक समझदार बच्चा अपने साथियों को 'अत्याचार' का अर्थ कुछ इस तरह समझाता है, "ये जो रोज जुल्म होते हैं न बस, इन्हीं को अत्याचार कहते हैं। तुम इसे यों समझो कि दुनिया वाले हम बच्चों पर जो करते हैं न, वह सब अत्याचार ही होता है। समझ गए न!" और इस अत्याचार से बचने के लिए बच्चे अपनी अलग दुनिया बसाने का फैसला करते हैं। वह अपनी नई दुनिया उस भूतिया हवेली में बसाते हैं, जहाँ कोई आता-जाता नहीं है। इन निडर बच्चों के सामने हवेली का तथा कथित भूत टिक नहीं पाता। वह अपनी जान बचाकर भाग खड़ा होता है। मनोहर वर्मा ने 'लोहा सिंह' और 'थ्री टाइगर्स' जैसे साहसिक कथानकों वाले उपन्यास लिखे। इसके साथ ही उन्होंने 'हम हारेंगे नहीं' जैसे विकलांग बच्चों की मेहनत, सच्चाई और ईमानदारी को उजागर करने वाले तथा 'एक थी चुहिया दादी' जैसे मन को लुभाने वाले बाल उपन्यास भी लिखे। मनु जी ने टिप्पणी करते हुए लिखा है, "यदि वर्मा जी के सभी बाल उपन्यास एक जिल्द में सामने आएँ, तो उनकी सृजनात्मक शक्ति के साथ-साथ बाल साहित्य के एक गौरवशाली दौर का इतिहास भी सामने आ सकेगा।"

आनंद प्रकाश जैन का उपन्यास 'भूलना मत काका' एक ऐसा उपन्यास है, जिसमें चंबल के डाकुओं के आत्मसमर्पण जैसे गंभीर विषय को इतने रोचक ढंग से प्रस्तुत किया गया है कि पाठक इसके कथा-रस में आरंभ से अंत तक बहता चला जाता है। 'पराग' में धारावाहिक रूप से छपा 'ताऊ तिलकू की कहानी' भी उनका बहुत मजेदार और यादगार उपन्यास है। इसमें ताऊ तिलकू गाँव के ठाटदार आदमी हैं। उनका छोटा भाई, जिसे फौज में काम करने के कारण, कप्तान कहा जाता है, शहर बंबई में रहता है। ताऊ तिलकू की बैलगाड़ी और शहरी जीवन की नई चाल का इस उपन्यास में बेहद सहज, चुटीली भाषा में वर्णन हुआ है। ताऊ ठेठ ग्रामीण भाषा में अपनी पत्नी से मोटी रोटी बनाने को कहते हैं, "गद्दर-गद्दर पो, क्या कप्तान की चिठिया-सी चिंदी-चिंदी पो रही है।" बचपन में पढ़े इस उपन्यास की ऐसी पंक्तियाँ आज भी याद आती हैं।

इसी प्रकार आनंद प्रकाश जैन जी के 'ढीली ईंट का रहस्य' में बच्चों की जासूसी और इंटेलीजेंस का ऐसा कमाल है कि जज व अधिकारी भी दाँतों तले उँगली दबा लेते हैं। इतना ही नहीं, बच्चों के माध्यम से स्कूल में जाल फैलाकर नशे का करोबार करने का इरादा रखने वाले दुष्टों की किरकिरी करने वाला आनंद जी का उपन्यास 'डबल सीक्रेट एजेंट जीरो-जीरो वन बाई टू' भी अपने समय का 'बेस्ट सेलर' उपन्यास रहा है। बाल उपन्यासों की धारा को समृद्ध करने में हरिकृष्ण देवसरे का भी काफी बड़ा योगदान है। देवसरे जी के 'महानायक मंगल पांडे' और 'तात्या की तलवार' अच्छे और प्रभावी ऐतिहासिक उपन्यास हैं। 'सुरखाब के पर' में पक्षियों का रंगारंग संसार और उसके प्रति आदमी की संवेदनशीलता का वर्णन है। देवसरे जी के 'बहादुर भालू', 'जाली नोट', 'होटल का रहस्य' भी उल्लेखनीय जासूसी बाल उपन्यास हैं।

इस पुस्तक में प्रकाश मनु जी ने मस्तराम कपूर, सत्यप्रकाश शील, डॉ. राधेश्याम विगत, शांति भटनागर, शशिप्रभा शास्त्री के बाल उपन्यासों पर भी विस्तार से चर्चा की है। उन्होंने पुस्तक में यह भी बताया कि क्यों और कैसे ऐतिहासिक बाल उपन्यासों में बाँकेबिहारी भटनागर का 'जय सोमनाथ', राधेश्याम प्रगल्भ का 'शाही हकीम', वीरेंद्र गुप्त का 'चाणक्य' तथा ललित सहगल का 'बीरबल' इस युग के महत्त्वपूर्ण और याद किए जाने वाले उपन्यास हैं।

इसके बाद विकास युग की संभावनाओं पर प्रकाश डालते हुए प्रकाश मनु जी ने लिखा है, "यद्यपि इस युग में हिंदी बाल उपन्यास लेखन की गति कुछ मंद पड़ गई, फिर भी बीच-बीच में विविधता और कलात्मकता से पूर्ण उपन्यास भी छपकर सामने आए। मिसाल के तौर पर गुलजार का 'बोसकी का कौआनामा', जो खासा मनोरंजक उपन्यास है।"

प्रदूषण की समस्या और पर्यावरण संरक्षण को रोचक कथानक में बुनकर प्रस्तुत करने वाले देवेंद्र कुमार ने 'चिड़िया और चिमनी' तथा 'पेड़ नहीं कट रहे' जैसे सशक्त उपन्यास लिखे हैं। हरिपाल त्यागी का 'ननकू का पाजामा' में नौटंकी में काम करने वाले ननकू के झकाझक सफेद पाजामे को गाँव के मास्टर जी द्वारा अपने मैले पाजामे से बदल लिए जाने का मजेदार किस्सा है। मनु जी के शब्दों में 'हिंदी में गाँव की जमीन पर लिखे गए इतने सच्चे और खरे उपन्यास बहुत कम हैं।' गाँव की पृष्ठभूमि पर नासिरा शर्मा का 'भूतों का मैकडोनल' भी ऐसे पाँच दोस्तों की कहानी कहता है, जो शरारतों में भूतों से कम नहीं हैं। लेकिन बाद में वे क्यों और कैसे बदलते हैं, यह उपन्यास पढ़कर ही जाना जा सकता है। इरा सक्सेना का 'कंप्यूटर के जाल में' भी विज्ञान फंतासी पर आधारित बाल उपन्यास है, जिसमें कथ्य की नवीनता और कंप्यूटर युग की तेजी है।

प्रकाश मनु जी के अपने खुद के उपन्यासों के केंद्र में बच्चे ही हैं। 'गोलू भागा घर से' में गोलू को महसूस होता है कि घर के लोग उसे समझते नहीं हैं। इसीलिए वह घर से भाग जाता है। इसके बाद दुर्भाग्य से वह एक अपराधी गिरोह के चंगुल में फँस जाता है। आगे क्या होता है, कौन उसकी मदद करता है? यह सारा घटना-क्रम बहुत रोचक है। इसी प्रकार 'एक था ठुनठुनिया' उपन्यास में ठुनठुनिया महोदय के ऐसे प्रसंग हैं, जो कौतुक और हास्य दोनों उत्पन्न करते हैं। इस उपन्यास को साहित्य अकादेमी द्वारा पहले बाल साहित्य पुरस्कार से नवाजा गया है।

समर्थ कथाकार क्षमा शर्मा ने भी बच्चों के लिए खूब लिखा है। 'होमवर्क', 'शिब्बू पहलवान' उनके चर्चित उपन्यास हैं। हरीश तिवारी का 'मैली मुंबई का छोक्रा लोग' भी एक अत्यंत मर्मस्पर्शी उपन्यास है, जिसमें झोंपड़पट्टी में रहने वाले बच्चे के संघर्ष की कहानी है। यह बच्चा नाइंसाफी और अपमान सहकर भी पढ़-लिखकर इतनी सफलता हासिल करता है कि लोग भौचक्के रह जाते हैं। प्रकाश मनु जी की इस पुस्तक से हमें यह भी ज्ञात होता है कि कृष्ण कुमार के 'पूड़ियों की गठरी', योगेंद्रदत्त शर्मा के 'रेगिस्तान में खरगोश', विमला भंडारी के 'इल्ली और रानी', अलका पाठक के 'इंसान का बेटा', मोनिका गुप्ता के 'वो तीस दिन' उपन्यासों में बच्चों की दुनिया और उनके सरोकारों का अद्‌भुत वर्णन है।

पुस्तक में ऐसे उपन्यासों का भी अलग से सविस्तार उल्लेख किया गया है, जिनमें पशु-पक्षियों के प्रति अनुराग की बात है। इनमें पंकज बिष्ट, हिमांशु जोशी, बानो सरताज, प्रेम जनमेजय, विनायक, क्षितिज शर्मा आदि के बाल उपन्यास शामिल हैं। इसके अलावा पुस्तक में हिंदी में अनूदित बाल उपन्यासों पर भी विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

रंगमंच की दुनिया और बाल नाटक

बाल नाटकों का इतिहास लिखते हुए प्रकाश मनु जी ने बताया है कि "बाल साहित्य की अन्य विधाओं के मुकाबले बाल नाटकों में अपने कथ्य के विस्तार की प्रवृत्ति कहीं ज्यादा दिखाई देती है, साथ ही अपने आप को बदले हुए समाज के मिजाज से जोड़ने की भी।"

मनु जी के अनुसार पहला उल्लेखनीय बाल नाटक राजा लक्ष्मण सिंह का 'भरत' है, जो शकुंतला के पुत्र भरत को केंद्र में रखकर लिखा गया है। मंचन की दृष्टि से भारतेंदु हरिश्चंद्र का 'अंधेर नगरी' बहुत सशक्त नाटक है। इसे आज भी जगह-जगह मंचित किया जाता है। हिंदी साहित्य के प्रसिद्ध लेखकों केशवचंद्र वर्मा, विष्णु प्रभाकर, कमलेश्वर और रेखा जैन ने नाटकों के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। डॉ. श्रीप्रसाद, राष्ट्रबंधु, प्रकाश मनु और बानो सरताज ने भी विविधतापूर्ण नाटक लिखे हैं। डॉ. बानो सरताज, प्रकाश मनु और राष्ट्रबंधु के बाल नाटकों के संग्रह प्रकाशित हुए हैं, तो जाकिर अली 'रजनीश' द्वारा संपादित नाटकों की पुस्तक 'तीस बाल नाटक' और अशोक वाजपेयी के संपादन में प्रकाशित बारह बाल नाटकों का संग्रह भी उल्लेखनीय है।

नाटकों के इतिहास के प्रारंभिक दौर में हास्य-विनोद से भरपूर नाटक लिखे गए, जो बच्चों के स्कूल के माहौल तथा शिक्षकों और बच्चों के संवादों के कारण खूब लोकप्रिय हुए। भगवन नारायण भार्गव के बाल नाटक 'पाठशाला' में शरारती बच्चों को डंडे के जोर से काबू में करने के लिए मास्टर साहब डंडा लाने को कहते हैं तो एक छात्र पूछता है, "पंडित जी डंडे का क्या कीजिएगा?" पंडित जी जवाब देते हैं, "तुम लोगों की मरम्मत करूँगा।" इस पर दूसरा छात्र कहता है, "क्या हम टूटे-फूटे पदार्थ या वस्तु हैं, जो आप हमारी मरम्मत करेंगे?" ऐसे में पंडित जी का खीजना स्वाभाविक है। रामचंद्र रघुनाथ सर्वटे का 'पाठशाला का एक दृश्य' भी ऐसा ही नाटक है, जिसमें बच्चों को भूगोल या व्याकरण के पाठ याद करना किसी पहाड़ की चढ़ाई चढ़ने से कम कठिन नहीं लगता और वे इससे बचने के तमाम बहाने ढूँढ़ते रहते हैं।

इसी प्रकार बलदेवप्रसाद के 'मच्छड़राम', रामेश्वरदयाल दुबे के 'वैयाकरण', डॉ. रामकुमार वर्मा के 'छींक' और 'तैमूर की तलवार' आदि नाटकों को मनु जी ने ऐसे नाटक कहा है, जिन्होंने हिंदी बाल नाटकों की नींव रखी। इतना ही नहीं, श्रीकृष्ण और योगेंद्र कुमार लल्ला ने तो लेखकों से आग्रह करके नाटक लिखवाए और 'प्रतिनिधि बाल एकांकी' शीर्षक से उन्हें प्रकाशित किया। यों तो शायद ही कोई अच्छा नाटक ऐसा हो, जिसका इस पुस्तक में उल्लेख छूट गया हो। फिर भी गौरव युग के कुछ अविस्मरणीय नाटक हैं- केशवचंद्र वर्मा का 'बच्चों की कचहरी',

आनंद प्रकाश जैन का 'परियों के देश में', सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का, 'भों-भों-खो-खो' तथा 'लाख की नाक, रेखा जैन का 'अप्सरा का तोता' तथा 'थप्प रोटी, थप्प दाल', विष्णु प्रभाकर का 'ऐसे-ऐसे', श्रीकृष्ण का 'हिरण्यकश्यप मर्डर केस', कमलेश्वर का 'पैंसों का पेड़', चिंरजीत का 'मदारी' और हरिकृष्ण देवसरे का 'बाल संसद।

विष्णु प्रभाकर जी के नाटक 'ऐसे-ऐसे' में मोहन के पेट में ऐसा दर्द होता है, जिसका कोई इलाज नहीं कर पाता। उसका दर्द तभी शांत होता है, जब मास्टर जी उसे 'होमवर्क' पूरा करने के लिए दो दिन की छुट्टी दे देते हैं। केशवचंद्र वर्मा के 'बच्चों की कचहरी' में जज बच्चे हैं और मुजरिम वे सभी लोग हैं, जो बच्चों की आजादी में बाधक हैं। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के 'भों-भों, खो-खो' में बच्चों की आपसी लड़ाई का सजीव चित्रण है। रेखा जैन का 'गणित देश' दिलचस्प नाटक है, जिसमें सोनू इसलिए स्कूल नहीं जाना चाहती, क्योंकि उसे गणित बिल्कुल अच्छा नहीं लगता है। गणित में उसकी रुचि जगाने के लिए क्या-क्या उपाय किए जाते हैं, यह नाटक पढ़कर ही जाना जा सकता है। बच्चों के हास्य नाटकों में के.पी.सक्सेना का 'चोंचू नवाब' और 'दस पैसे के तानसेन' के साथ ही विमला लूथरा का 'मोटे मियाँ', प्रेमलता दीप का 'सिर मुँडाते ओले पड़े' आदि नाटकों के बारे में पढ़ते हुए बरबस होंठों पर मुसकान आ जाती है।

प्रकाश मनु जी के बाल नाटकों में बच्चों की मस्ती, शरारतों और भीतरी ऊर्जा का सजीव चित्रण हुआ है। उनके बाल नाटकों के लगभग डेढ़ दर्जन संग्रह प्रकाशित हुए हैं। उनके 'अजब छींक नंदू की', 'झटपटसिंह फटफटसिंह', 'मैं करमकल्ला नहीं हूँ' आदि हास्य प्रधान नाटक हैं, तो 'सपनों का पेड़', 'नए साल क्या-क्या लाओगे' नाटक बच्चों के सपनों, संकल्पों से रू-ब-रू कराते हैं और उन्हें कुछ नया करने के लिए प्रेरित करते हैं। उनके नाटक 'युद्ध अब कभी नहीं' में सच्ची वीरता क्या है, इसे बहुत ही प्रभावी ढंग से रेखांकित किया गया है और 'जानकीपुर की रामलीला' तो खुद नाटक के अंदर नाटक का मजा देता है। इसमें गाँव में रामलीला की तैयारियों और उत्साह का ऐसा माहौल रचा गया है, जिसे महसूस किया जा सकता है। ऐसी रामलीला के उल्लासमय वातावरण में पाठक का मन भी खुशी से झूम उठता है।

यह प्रकाश मनु जी की कलम का जादू ही है कि उनके नाटकों को पढ़ते समय हम उन्हें सामने घटित होता महसूस करने लगते हैं। नाटक के पात्रों के चुटीले संवाद और घटना-क्रम के साथ प्रसंगानुकूल गीत और कविता का समावेश पाठक को मंत्र-मुग्ध किए रहते हैं। मनु जी ने पर्यावरण, युद्ध, निरक्षरता निवारण आदि जैसे सामयिक और जरा गंभीर मुद्दों पर भी नाटक लिखे हैं।

पुस्तक में ऐसे नाटककारों का जिक्र भी हैं, जिन्होंने बच्चों के लिए अधिक नाटक नहीं लिखे। लेकिन उन्होंने जो नाटक लिखे हैं, उनका अपना एक अलग मुकाम है। इनमें चंद्रदत्त 'इंदु' का 'एक मूँछ और', प्रसाद निष्काम का 'ओना मासी धम' तथा देवेंद्र कुमार का 'छुट्टी का दिन' बहुत सशक्त और प्रभावी नाटक हैं।

हिंदी बाल साहित्य का इतिहास पुस्तक में बाल कविता, कहानी, उपन्यास और नाटक के अलावा बाल साहित्य के तीन अन्य पक्षों का भी विस्तृत विवेचन और विश्लेषण है। बाल साहित्य के ये आयाम हैं- बाल ज्ञान-विज्ञान साहित्य, बाल जीवनी तथा अन्य विधाएँ (जैसे संस्मरण, यात्रा-वृत्तांत, रेखाचित्र, पत्र आदि) तथा बाल पत्रिकाएँ। इन विधाओं के बारे में जानना भी बहुत रुचिकर है।

ज्ञान-विज्ञान की नई बातें

विज्ञान साहित्य आज की जरूरत है और चुनौती भी। निश्चय ही बच्चों के लिए लिखा गया विज्ञान साहित्य सहज, सरल भाषा में होने के साथ ही प्रामाणिक भी होना चाहिए। ऐसे साहित्य की सार्थकता तभी है, जब वह बच्चों के मन में नया सोचने और कुछ बेहतर करने की इच्छा जगाए। उनके कल्पना-लोक को सही दिशा और पंखों को नई परवाज दे। आजादी से पहले 'सरस्वती' पत्रिका में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने विज्ञान संबंधी लेख और वैज्ञानिकों के जीवन-चरित छापकर हिंदी में बाल विज्ञान लेखन को बढ़ावा दिया। उनके संपादन में इस पत्रिका में विज्ञान के नये आविष्कारों की विज्ञान कथाएँ भी छपीं।

इसके बाद इसी कालखंड में अन्य अनेक विज्ञान संबंधी विषयों पर पुस्तकें छपीं, जिनमें 'आग की कहानी', 'बिजली की लीला', 'आकाश की सैर', 'आविष्कारों की कहानी' आदि अत्यंत महत्त्वपूर्ण जानकारी देने वाली पुस्तकें थीं। इसी समय की बात है जब आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर की 'विश्व परिचय' नामक पुस्तक का हिंदी में अनुवाद किया था। यह बात हमें बाल साहित्य के इतिहास की इस पुस्तक से ही ज्ञात होती है।

गौरव युग के विज्ञान संबंधी बाल साहित्य में रमेश वर्मा की 'झिलमिल सितारे' अंतरिक्ष ग्रहों और तारों की जानकारी देने वाली पुस्तक है। इस पुस्तक के संबंध में मनु जी ने लिखा है कि "रमेश वर्मा की भाषा में ऐसा आकर्षण है कि झिलमिलाते सितारों पर लिखी गई यह पुस्तक किसी परीलोक की सैर जैसी लगती है।" इसके अलावा रमेश वर्मा ने रेडियो, टेलीवीजन, रॉकेट, उड़नतश्तरी पर भी किताबें लिखी हैं। इसी युग में गुणाकर मुले ने हिंदी विज्ञान लेखन को बहुत समृद्ध किया है। उनकी 'प्राचीन अंकों की कहानी', 'लिपियों की कहानी', 'अक्षरों की कहानी', 'भारतीय विज्ञान की कहानी' 'प्राचीन भारत के महान वैज्ञानिक' आदि अत्यंत महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं। इसके साथ ही 'आर्यभट', 'भास्कराचार्य' भी ऐसी पुस्तकें हैं, जिन्होंने बच्चों में विज्ञान के प्रति रुचि जगाई।

गुणाकर मुले के योगदान को सम्मान से याद करते हुए प्रकाश मनु जी ने लिखा है, "बाल पाठकों को विज्ञान की दुर्लभ और महत्त्वपूर्ण जानकारी देने में जितना कठिन परिश्रम अकेले गुणाकर मुले ने किया है, उतना शायद दस-बीस लेखकों ने मिलकर भी न किया हो। गुणाकर मुले की खासियत यह है कि वे प्राच्य भारतीय विद्या के विद्वान तो हैं ही, पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की भी उन्हें गहरी समझ है।" कोई आश्चर्य नहीं कि गुणाकर मुले जी की पुस्तकों से प्रेरणा पाकर जो कल बच्चे थे, वे आज कुशल वैज्ञानिक बनकर देश की सेवा कर रहें हों।

हरिकृष्ण देवसरे की 'नील गगन पर उड़ते विमान' तथा 'सागर पर चलते जलयान' भी विज्ञान के रहस्यों से जुड़ी दिलचस्प पुस्तकें हैं। जयप्रकाश भारती जी की पुस्तक 'कितना अनजाना तुम्हारा कारखाना' में मनुष्य के शरीर को एक कारखाने के रूप में दर्शाया गया है। इस कारखाने के सभी अंग अपना-अपना काम निर्धारित पद्धति से करते हैं। मनुष्य की अपनी लापरवाही ही इन अंगों या मशीनी भाषा में कहें, तो कलपुर्जों के सुचारु संचालन में बाधा उत्पन्न करती है। मनु जी के शब्दों में, "बच्चों के लिए विज्ञान की अच्छी पुस्तकें कैसे लिखी जाएँ, इसके मॉडल के रूप में भारती जी की इस पुस्तक को प्रस्तुत किया जा सकता है।"

इसी प्रकार वीर कुमार अधीर की 'मस्तिष्क के रहस्य', श्रीकृष्ण की 'विज्ञान की मजेदार बातें', योगेंद्र कुमार लल्ला की 'खेल भी विज्ञान भी', रत्नप्रकाश शील की 'विज्ञान की कहानियाँ', वेदमित्र की 'दूरबीन की कहानी' आदि के बारे में मनु जी ने इस पुस्तक में जो जानकारी दी है, उससे यह जाहिर हो जाता है कि गौरव युग में बच्चों के लिए ज्ञान-विज्ञान से संबंधित कितना अधिक और सार्थक साहित्य लिखा गया है, जिससे हम शायद अभी तक अनजान ही हैं।

विकास युग को कंप्यूटर युग भी कहा जा सकता है। इस युग में आधुनिक भारत की उपलब्धियों और नई तकनीक से जुड़ी जानकारी देने वाली अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। इस युग का प्रतिनिधित्व करने वाली कुछ उल्लेखनीय पुस्तकें हैं- रमेशदत्त शर्मा की 'धान कथा', देवेंद्र मेवाड़ी की 'फसलें कहें कहानी', दिलीप एम. सालवी की 'वैज्ञानिकों की रोचक बातें', प्रकाश मनु की 'अजब-अनोखी विज्ञान कथाएँ', ख्वाजा अहमद अब्बास की 'फिल्म कैसे बनती है' आदि। प्रकाश मनु जी के अनुसार इन किताबों को इतना रस लेकर और इतने अधिकारिक ढंग से लिखा गया है कि बच्चे बार-बार इन किताबों को पढ़ना पसंद करते हैं।

इतना ही नहीं, बाल साहित्य के इतिहास की इस पुस्तक में मनु जी ने जीव-जंतुओं, पशु-पक्षियों और वनस्पति जगत के बारे में लिखी गई रोचक पुस्तकों की विस्तृत जानकारी भी दी है। बच्चों को पर्यावरण संरक्षण के प्रति जागरूक करने वाली पुस्तकों पर भी अलग से प्रकाश डाला गया है। नदियों की कहानी हो या खेल-खेल में विज्ञान की बात, फंतासी से जुड़ी विज्ञान कथाएँ हों या हिंदी में अनूदित ज्ञान-विज्ञान साहित्य, भला कौन-सा ऐसा पक्ष है जो इस पुस्तक में मनु जी की पैनी नजर से छूटा हो। कितना व्यापक और विस्तृत है उनके अध्ययन और मनन का फलक।

बाल जीवनियाँ : बच्चों के लिए प्रेरणा-स्रोत

बाल जीवनियाँ साहित्य की ऐसी विधा हैं जो बच्चों को वर्तमान के साथ-साथ अतीत में झाँकने और भविष्य की परिकल्पना करने की सुविधा देती है। बाल जीवनियों से प्रेरणा लेकर बच्चा यह सोचने व समझने लगता है कि वह भविष्य में कैसा बनना चाहेगा या क्या करना चाहेगा। एक तरह से जीवनियाँ बच्चों के लिए भविष्य के कपाट खोलती हैं। आजादी से पहले

महापुरुषों की जो जीवनियाँ लिखी गईं, उनमें बच्चे के मन में नैतिकता, राष्ट्रीयता और स्वाभिमान के अंकुर रोपित करने का भाव प्रमुख था। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रयासों से 'बालसखा' पत्रिका में ऐसी जीवनियाँ छपीं, जो बच्चों को वीर और निडर बनाती थीं।

कथा-सम्राट प्रेमचंद ने 'शेख सादी' और 'दुर्गादास' की जीवनियाँ लिखीं थीं। इसके अलावा उनकी एक और पुस्तक 'कलम, तलवार और त्याग' शीर्षक से छपी थी, जिसमें लेखकों, कलाकारों, संतों, समाज सुधारकों, स्वाधीनता सेनानियों, इतिहास पुरुषों और जननायकों के जीवन पर प्रेमचंद ने लिखा था। निश्चय ही यह पुस्तक अपने आप में बच्चों के लिए ऐसा प्रेरणा-स्रोत होगी, जिसने बच्चों के मन-मस्तिष्क पर जादू का सा असर किया होगा। क्यों न हम आज भी प्रेमचंद की ये पुस्तकें खुद भी पढ़ें और नयी पीढ़ी को भी उपहार में दें।

प्रकाश मनु जी हमें बताते हैं कि गौरव युग में सबसे अधिक जीवनियाँ क्रांतिकारियों और स्वाधीनता सेनानियों की लिखी गईं। इस युग में लिखी गई लेखकों, कलाकारों, समाज सुधारको की जीवनियों की जानकारी भी इस पुस्तक से हमें मिलती है। शायद कम लोग जानते होंगे कि डॉ. रामविलास शर्मा जी ने 'निराला की साहित्य साधना' पुस्तक से पहले बच्चों के लिए 'सूर्यकांत त्रिपाठी निराला' शीर्षक से पुस्तक लिखी थी। यह पुस्तक पिता और पुत्री के संवाद के रूप में लिखी गई है, जिसमें वे निराला जी के बड़े कद के विशाल व्यक्तित्व तथा उनके जीवन संघर्ष के बारे में अपनी पुत्री को बताते हैं। बताने का अंदाज इतना अनूठा है, मानो वह नन्ही, अबोध बच्ची की उँगली पकड़कर उसे निराला जी जैसी शख्सियत से मिलाने ले जा रहे हों।

इसी प्रकार विष्णु प्रभाकर जी ने शरतचंद की कालजयी जीवनी 'आवारा मसीहा' तो बाद में लिखी थी, इससे पहले उन्होंने बच्चों के लिए शरतचंद की संक्षिप्त, किंतु अत्यंत रोचक जीवनी लिखी थी। बाल जीवनी-माला सीरीज के अंतर्गत पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस से प्रकाशित उनकी इस पुस्तक में शरतचंद के बचपन, उनके स्वभाव, साहित्यिक रुचियों और संघर्षमय जीवन की झलक है। इसी तरह बाबा नागार्जुन ने भी बच्चों के लिए 'प्रेमचंद' की जीवनी लिखी है। इसमें प्रेमचंद और उनकी पत्नी शिवरानी देवी के आपसी संवाद के साथ ही प्रेमचंद के सरल स्वभाव के प्रसंग और कठिनाइयों से भरे जीवन का चित्रण है।

पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (पीपीएच) से प्रकाशित रजिया सज्जाद जहीर की 'मिर्जा गालिब', भदंत आनंद कौसल्यायन की 'राहुल सांकृत्यायन' भी रोचक और पठनीय जीवनियाँ हैं, जिन्हें बहुत सराहा गया है। इतना ही नहीं, बाल जीवनी-माला के अंतर्गत विश्वप्रसिद्ध वैज्ञानिकों जैसे डार्विन, एडीसन, मैडम क्यूरी, जगदीशचंद्र बसु और कोपरनिकस की जीवनियाँ भी आधिकारिक विद्वानों से लिखवाकर छापी गईं। इन जीवनियों की विशेषता यह थी कि इनके लेखकों ने सीधी-सरल भाषा में घटनाओं एवं तथ्यों को प्रस्तुत करके, इन पुस्तकों को बच्चों के लिए रोचक बनाए रखने का पूरी शिद्दत से प्रयास किया।

इसी कालखंड में प्रकाशित नित्यानंद तिवारी की 'पाँच पांडव', जगदीश विद्यालंकर की

'पुरखों का चरित्र', जगदीश भारती की 'विज्ञान की विभूतियाँ' और वेदमित्र की 'प्रतिभा के पुत्र' बड़ी साहसपूर्ण और भावनात्मक पुस्तकें हैं, जो असाधारण काम करने वाले नायको की छवियाँ बच्चों के मन में उकेरती हैं। इसी तरह सुभाष मुखोपाध्याय द्वारा लिखी गई जगदीशचंद्र बसु तथा वजीर हसन आब्दी द्वारा लिखी गई कोपरनिकस और रामानुजन की जीवनियाँ भी बहुत आकर्षक हैं।

भारत सरकार के प्रकाशन विभाग द्वारा प्रकाशित 'भारत के गौरव' सीरीज का भी अपना अलग महत्त्व है। यह जानकर आश्चर्य होता है कि यह सीरीज नौ खंडों में प्रकाशित हुई है, जिसमें लगभग पौने दो सौ महान विभूतियों के जीवन-चरित एक साथ सामने आते हैं। बाल जीवनी लेखन के विकास युग की विशेषता है, रचनाओं की विविधता और कलात्मक निखार। इस युग की प्रमुख जीवनियों का उल्लेख करते हुए प्रकाश मनु जी ने कुछ रचनाओं को खास तौर से रेखांकित किया है। इनमें अक्षय कुमार जैन की 'देश-विदेश के महापुरुष' पुस्तक भी है, जिसमें देश-विदेश के बीस महापुरुषों के जीवन की रोचक झलकियाँ हैं। डॉ. राजेंद्र प्रसाद श्रीवास्तव की 'भारत के शिक्षा-शास्त्री' पुस्तक में अपने उच्च विचारों से देश को नयी राह दिखाने वाले शिक्षा-शास्त्रियों के जीवन दर्शन का बड़ी सरल भाषा में वर्णन है।

स्वयं बाल साहित्य के इतिहासकार प्रकाश मनु जी की 'जो खुद कसौटी बन गए' में महात्मा गाँधी, स्वामी विवेकानंद, स्वाधीनता सेनानी महिलाओं तथा हिंदी-सेवी महापुरुषों की प्रेरक बातों को प्रस्तुत किया गया है। उषा यादव की 'सुनो कहानी : नानक बानी' में गुरु नानक के व्यक्तिव और मानवतावादी बातों को शामिल किया गया है। डॉ. सुनीता ने देश-विदेश के अट्ठाईस महानायकों की जीवन-गाथा प्रस्तुत की है, जिन्होंने अपना जीवन दुनिया को बेहतर बनाने के प्रयासों में लगाया है। ये जीवनियाँ बच्चों को सही और सकारात्मक सोच के साथ जीवन में कुछ अच्छा करने और समाज को कुछ नया देने के लिए प्रेरित करती हैं।

बाल साहित्य की वरिष्ठ लेखिका शांति अग्रवाल ने 'भारत के राष्ट्रपति : राजेंद्र बाबू से कलाम तक' किताब लिखी। इसमें उन्होंने सभी राष्ट्रपतियों पर आत्मीयता से लिखा है। खास बात यह कि जिन राष्ट्रपतियों से वे स्वयं मिलीं, उनके अंतरंग संस्मरण भी इसमें शामिल हैं। रत्नप्रकाश शील ने 'शांति-दूत की देन' पुस्तक में जवाहर लाल नेहरू के जीवन प्रसंगों को प्रस्तुत किया है। बेहद सक्रिय रहने वाले श्यामसिंह 'शशि' ने महान बलिदानी विरसा मुंडा के जीवन की वीरतापूर्ण घटनाओं का परिचय कराने वाली पुस्तक 'स्वतंत्रता सेनानी विरसा मुंडा' लिखी। उनकी 'भारत के यायावर' भी एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण पुस्तक है।

वर्तमान दौर में के.सी. खन्ना द्वारा लिखी 'भारत में विदेशी यात्री' पुस्तक में चार विदेशी यात्रियों-मेगस्थनीज, फाह्यान, हवेनसांग तथा अलबरूनी के जीवन, व्यक्तित्व की खूबियों और उनकी भारत-यात्रा का रुचिकर वर्णन है। प्रकाशन विभाग द्वारा 'भारत की महान नारियाँ' शृंखला के अंतर्गत ऐसी जीवनियाँ प्रकाशित की गईं जो महिलाओं के त्याग, आत्मसम्मान, दृढ़ निश्चय, आंतरिक शक्ति और अदम्य संघर्ष पर प्रकाश डालती हैं। इस पुस्तक में मनु जी ने इसी

संदर्भ में कुछ अन्य महान विभूतियों का उल्लेख करते हुए कामना की है कि "बेहतर होगा, अगर महादेवी वर्मा, महाश्वेता देवी, आशापूर्णा देवी, इंदिरा गाँधी, बछेंद्रीपाल, कर्णम मल्लेश्वरी, पी. टी. उषा जैसी साहसी महिलाओं के जीवन संबंधी पुस्तकें भी बच्चों के लिए लिखी जाएँ।"

जीवनियों के अलावा महापुरुषों के प्रेरक प्रसंगों के आधार पर प्रकाशित पुस्तकों पर प्रकाश मनु जी ने अलग से चर्चा की है। ऐसी पुस्तकों का महत्त्व भी बच्चों के लिए कम नहीं है।

बाल पत्रिकाएँ-बच्चों से सीधा संवाद

बाल साहित्य को पाठकीय मंच प्रदान करने में बाल पत्रिकाओं का अहम योगदान रहा है। ये पत्रिकाएँ बच्चों के मानसिक विकास में मददगार रही हैं। पुस्तकों की अपेक्षा पत्रिकाएँ कम खर्च पर और आसानी से मिल जाती हैं। इसीलिए इनकी पहुँच बच्चों तक हमेशा रही है। प्रारंभिक बाल पत्रिकाएँ, जो बच्चों की रुचियों को ध्यान में रखकर निकाली गई, वे थीं- 'बालहितकर', 'बाल विनोद', 'बाल प्रभाकर', 'बाल हितैषी', 'मॉनीटर' आदि। इन पत्रिकाओं में इनके योग्य संपादकों द्वारा यद्यपि बच्चों के लिए बहुत अच्छी रचनाएँ और बालोपयोगी विविध सामग्री प्रकाशित की गई, फिर भी ये पत्रिकाएँ कुछ वर्षों तक ही जारी रही पाईं।

इसके पश्चात् इलाहाबाद से 'शिशु' और 'बालसखा' पत्रिकाओं का प्रकाशन किया गया। ये पत्रिकाएँ लंबे समय तक निकलती रहीं। 'शिशु' बयालीस वर्षों तक निकली और इंडियन प्रेस से प्रकाशित 'बालसखा' तिरेपन वर्षों तक। इन दोनों पत्रिकाओं ने अच्छा बाल साहित्य उपलब्ध कराने की दिशा में ऐतिहासिक काम किया। इसी प्रकार 'बालक' भी एक स्तरीय बाल पत्रिका थी, जिसका प्रकाशन आजादी के बाद भी लंबे समय तक जारी रहा। स्वतंत्रता संग्राम के समय तथा उसके बाद भी अनेक बाल पत्रिकाएँ सामने आई, जिनमें से प्रमुख थीं- 'खिलौना', 'वानर' और 'चमचम'। इन पत्रिकाओं ने बाल साहित्य के विकास में बहुत योगदान दिया।

आजादी के बाद ठाकुर श्रीनाथ सिंह के संपादन में मित्र प्रकाशन से लोकप्रिय पत्रिका 'मनमोहन' निकली। इस पत्रिका ने बाल साहित्य को नई दिशा देने के साथ ही, नये लेखकों को प्रोत्साहित किया। मनु जी ने इस पत्रिका के संबंध में लिखा है कि "बाल साहित्य' में वरिष्ठ पीढ़ी के बहुत से लेखक ऐसे हैं, जिन्हें सामने लाने का श्रेय 'मनमोहन' को है।" इसी दौरान स्थायी महत्त्व की जो उल्लेखनीय पत्रिकाएँ प्रकाशित हुई, वे थीं- 'बाल भारती', 'चंदामामा', 'नंदन', 'चंपक', 'मेला' आदि।

'बाल भारती' पत्रिका भारत सरकार के प्रकाशन विभाग से 1948 में निकाली गई। इसके संपादन का कार्य साहित्य मनीषियों ने समय-समय पर सँभाला। इसे देवेंद्र सत्यार्थी, मन्मथनाथ गुप्त और द्रोणवीर कोहली जैसे संपादकों की सोच और रचनात्मक दृष्टि का लाभ मिला। इसमें बच्चों को देश और समाज की रोचक जानकारी देने वाले लेख छपे। साथ ही मैथलीशरण गुप्त, भीष्म साहनी, कृश्न चंदर, इस्मत चुगताई, कृष्णबलदेव वैद सहित हिंदी के अनेक दिग्गज साहित्यकारों की कहानियाँ भी इसमें छापी गईं। इसके एक वर्ष बाद 1949 में

चेन्नई से 'चंदामामा' पत्रिका निकली, जिसके रंगीन चित्र, साज-सज्जा बहुत आकर्षक थी। इसमें प्रकाशित विक्रम-वेताल की कहानी को भला कौन भुला सकता है? यह पत्रिका यद्यपि अभी भी प्रकाशित हो रही है, लेकिन इसमें अब वह आकर्षण नहीं रहा, जो पहले था।

बाल साहित्य की पत्रिकाएँ, जिन्होंने अखिल भारतीय स्तर की अपनी अलग पहचान बनाई, वे थीं- टाइम्स ऑफ इंडिया प्रतिष्ठान की बाल पत्रिका 'पराग', हिंदुस्तान टाइम्स की 'नंदन' और दिल्ली प्रेस की 'चंपक'। 'चंपक' छोटे बच्चों की तो 'पराग' और 'नंदन' कुछ बड़े बच्चों की पत्रिकाएँ थीं। 'चंपक' क्योंकि छोटे बच्चों की पत्रिका थी, इसलिए बच्चों के मन को भाने वाली जानवरों की कहानियाँ इसमें छापी गईं। इससे बड़े और व्यापक स्तर की पत्रिका 'नंदन' में बच्चों के बहुमुखी विकास को ध्यान में रखकर उत्कृष्ट रचनाएँ छापी गईं।

मनु जी के शब्दों में, "'नंदन' का जोर शुरू से ही बच्चों के संपूर्ण विकास पर रहा, जिसमें मनोरंजन, जानकारी और रचनात्मक प्रतिभा का विकास-तीनों बिंदुओं के बीच संतुलन साधने की कोशिश की गई।" इस पत्रिका के संपादक कथाकार राजेंद्र अवस्थी और जयप्रकाश भारती जी रहे थे। इस पत्रिका में जवाहरलाल नेहरू से अटलबिहारी वाजपेयी तक अनेक बड़े राजनेताओं के लेख और अमृतलाल नागर से लेकर रामदरश मिश्र तक सभी बड़े साहित्यकारों की रचनाएँ प्रकाशित की गईं। अपनी सरल, सहज और सरस भाषा तथा अच्छी पठनीय सामग्री के कारण 'नंदन' की लोकप्रियता निर्विवाद बनी रही।

इसी प्रकार मुंबई से प्रकाशित 'पराग' भी बाल साहित्य की घर-घर में पढ़ी जाने वाली पत्रिका रही है। इसके प्रथम संपादक सत्यकाम विद्यालंकार थे। इससे कालांतर में समय-समय पर जुड़े साहित्यकारों आनंद प्रकाश जैन, कन्हैया लाल नंदन, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना और हरिकृष्ण देवसरे की संपादन-कला का इसे बेहद लोकप्रिय बाल पत्रिका बानाने में अप्रतिम योगदान रहा। 'पराग' में यात्रा-वृत्तांत, ऐतिहासिक स्थलों का विवरण, विज्ञान-कथाओं, नाटकों, कहानियों, धारावाहिक उपन्यासों आदि का नियमित रूप से प्रकाशन किया गया। बेशक हिंदी बाल साहित्य को नयापन देने और उसे आधुनिक सरोकारों से जोड़ने में 'पराग' का बड़ा योगदान रहा है। दुर्भाग्य से किन्हीं कारणों से इसका प्रकाशन अब बंद हो गया है।

ऐसी बाल पत्रिकाएँ जो काफी लोकप्रिय थीं, लेकिन व्यावसायिक दबावों के कारण अधिक समय तक जारी नहीं रह पायीं, वे थीं- रत्नप्रकाश शील द्वारा संपादित 'मिलिंद' और योगेंद्र कुमार लल्ला द्वारा संपादित 'मेला'। इसी तरह अपनी अद्‌भुत सर्जनात्मक क्षमता और नये तेवरों के बावजूद कुछ अच्छी बाल पत्रिकाएँ ज्यादा समय तक बच्चों के साथ नहीं रह पाईं। ये पत्रिकाएँ थीं - 'नन्हे तारे', 'किशोर लेखनी', 'बाल मेला', 'समझ झरोखा' आदि।

गत दो दशको से श्री भैरूँलाल गर्ग द्वारा भीलवाड़ा से प्रकाशित 'बालवाटिका' बाल साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण पत्रिका बनी हुई है। यह एक ऐसी समग्र पत्रिका है, जिसमें कविता, कहानी से लेकर गंभीर आलोचनात्मक लेख, यात्रा-वृत्तांत, संस्मरण, पुस्तक समीक्षा, चिट्ठी

और बाल साहित्य के सरोकारों से जुड़ी विविध संगोष्ठियों, समारोहों की रिपोर्ट आदि छपती हैं। इस पत्रिका का कलेवर इतना सहजता और आत्मीयता से परिपूर्ण है कि इसे मनु जी ने एक ऐसी 'पारिवारिक चौपाल' कहा है, जिसमें लेखक अपनी रचनाएँ साझा करते हुए खुलकर चर्चा भी करते हैं। इसीलिए प्रकाश मनु जी ने आने वाले समय में इसकी अकूत संभावनाओं की ओर इशारा करते हुए लिखा है कि "सच पूछिए तो बाल साहित्य की सही आलोचना की राह यहीं कहीं से निकलेगी।"

इसके अलावा 'बालवाणी' और 'चकमक' भी ऐसी बाल पत्रिकाएँ हैं, जिन्होंने बाल साहित्य के विकास में उल्लेखनीय भूमिका निबाही है, साथ ही बच्चों की रचनात्मकता को प्रोत्साहित भी किया है।

वर्तमान समय की जिन अन्य बाल पत्रिकाओं पर बाल साहित्य के इतिहास की इस पुस्तक में प्रकाश डाला गया है वे हैं- 'अभिनव बालमन', 'अपना बचपन', 'बाल प्रहरी', 'नई पौध' और 'नन्ही कलम'। इनमें राम कुमार कृषक के संपादन से सज्जित 'नई पौध' में एक बच्चे की डायरी के प्रकाशन तथा बच्चों से लिए गए इंटरव्यू के प्रकाशन जैसे अभिनव प्रयोग किए गए, जिन्हें सभी ने काफी पसंद किया। इसके अलावा श्याम सुशील ने भी बच्चों को साथ लेकर अपनी पत्रिका 'नन्ही कलम' को ऐसा नयापन दिया कि इस पत्रिका को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। पत्रिका में बाल साहित्य के लेखकों के साथ बच्चों की अपनी रचनाएँ उन्हीं की हस्तलिपि में छापा जाना पत्रिका को और अधिक आकर्षक बना देता है।

अन्य विधाएँ-नई दिशाएँ

हिंदी बाल साहित्य का इतिहास पुस्तक में बाल कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, ज्ञान-विज्ञान, बाल जीवनियाँ और बाल पत्रिकाओं के अलावा बाल साहित्य की कुछ अन्य विधाओं का भी विस्तृत विवेचन और विश्लेषण किया गया है। अन्य विधाएँ जो बाल साहित्य में अपना स्थान बना चुकी हैं, वे हैं - आत्मकथा, संस्मरण, यात्रा-वृत्तांत, रेखाचित्र, डायरी-अंश, पत्र आदि। इन विधाओं के बारे में जानना भी बहुत रुचिकर है। इन विधाओं के तहत रचनाएँ पहले पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई और बाद में इनकी छोटी-छोटी पुस्तकें भी निकलीं। कुछ बेहतरीन आत्मकथात्मक पुस्तकें हैं- जयप्रकाश भारती की 'उनका बचपन यों बीता', श्रीकृष्ण द्वारा संपादित 'मेरा बचपन', बचेंद्रीपाल की 'एवरेस्ट : मेरी शिखर-यात्रा' तथा प्रभा शुक्ल की 'साक्षरता के पड़ाव'। इनमें अनेक रोचक व ज्ञानवर्द्धक बातों को आत्मकथात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया है।

इसी प्रकार संस्मरण लेखन भी एक ऐसी विधा है, जो अतीत के खट्टे-मीठे अनुभवों को साझा करती है। 'बालवाटिका' का मई 2016 अंक संस्मरण विशेषांक के रूप में प्रकाशित किया गया। इस अंक को सभी ने बहुत पसंद किया। दिविक रमेश की 'फूल और फल भी', रमाशंकर द्वारा संपादित 'साहित्यकारों के संस्मरण', 'साहित्यकारों का बचपन' आदि संस्मरण विधा को

केंद्र में रखकर लिखी गई अच्छी पुस्तकें हैं। इसी प्रकार आठ वर्ष के शिवांक की पुस्तक 'आज से मैंने सोचा', अपूर्वा जगत की 'समंदर के तट पर', सविता चड्ढा की 'मुसकान की डायरी' आदि पुस्तकें डायरी लेखन विधा के माध्यम से बच्चों के अंतर्मन के बंद कपाट खोलती हैं। इस संबंध में मनु जी ने लिखा है कि "इस तरह की डायरियाँ सामने आएँ, तो बच्चों के मन और भीतरी जगत के खुलने के साथ-साथ उनकी भाषा के बड़े जीवंत और विलक्षण नमूने भी सामने आएँगे।"

इसके अलावा पुस्तक में पत्र विधा का भी मनु जी ने उल्लेख किया है। इसमें नेहरू जी की पुस्तक 'पिता के पत्र पुत्री के नाम' तथा चंद्रपाल सिंह 'मयंक' की 'चाचा नेहरू का पत्र बच्चों के नाम', पत्रों के आत्मीयता भरे लहजे में देश-दुनिया की बातें बताती हैं। डॉ. सुनीता की पुस्तक 'खेल-खेल में बातें' में भी पत्र-शैली में कुरुक्षेत्र-यात्रा का वर्णन है। इसी प्रकार निबंध, यात्रा-वृत्तांत, चित्रकथाएँ और पहेलियाँ भी हर उम्र के बच्चों से वास्ता रखने वाली सुंदर विधाएँ हैं। इन विधाओं पर भी प्रकाश मनु जी ने प्रकाश डाला है। इसके साथ ही 'नन्ही कलम' पत्रिका ने तो बच्चों से इंटरव्यू भी प्रकाशित किए, जिसके बारे में कोई सोच भी नहीं सकता था। बच्चों का मन गीली मिट्टी-सा सोंधी सुगंध लिए होता है, जिसके पास जाना अपने आप में एक अनूठा अनुभव है।

इन सब नई-नई विधाओं के संबंध में प्रकाश मनु जी का यह कथन गौर करने योग्य है कि "इधर बाल साहित्य का इतिहास लिखने बैठा तो अवाक् रह गया। लगा, बाल साहित्य जिसे 'एक छोटा पोखर' कहकर मजाक उड़ाया जाता रहा है, वह तो एक अगाध समंदर है, जिसकी सीमाएँ दूर-दूर के अनुभव प्रदेशों को छू आई हैं।"

सच तो यह है कि बाल साहित्य का इतिहास लिखकर प्रकाश मनु जी ने अच्छे और सार्थक बाल साहित्य के मानदंडों को रेखांकित किया है। उनके इस श्रमसाध्य कार्य से नई कलमों को नई सर्जनात्मक दिशा मिलेगी। बेशक यह एक अत्यंत गंभीर किस्म का कार्य है। इसके बावजूद भाषा की सहजता, सरलता व प्रवाह के कारण इसको पढ़ते समय कहानी पढ़ने जैसा आनंद आता है। इस पुस्तक में प्रकाश मनु जी ने बाल साहित्य की विविध विधाओं की जिन उपलब्धियों और विशेषताओं से अवगत कराया है, वे निश्चय ही ऐतिहासिक महत्त्व की हैं।

यों सच तो यह है कि बाल साहित्य रूपी उद्यान के एक-एक फूल के पास जाना अभी बाकी है। पूरे उद्यान का आनंद लेने और इसकी हरियाली के बीच सैर करके तरोताजा होने के लिए हम यहाँ जितनी बार आएँ, उतना कम है।

सोना शर्मा, 786 सेक्टर-46, फरीदाबाद (हरियाणा)
मो. : 09958580248

भारतीय रंगयात्रा में लोकनाट्य शैलियों का महत्व

बाबूलाल मीना

लोकनाट्य की उत्पत्ति लोकरंजन के लिए हुई थी। लोकनाट्य में ग्रामीण जीवन के समस्त सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक मान्यताओं तथा प्रवृत्तियों का चित्र उकेरा जाता है। संवाद तत्व की प्रधानता होने से चरित्र-चित्रण प्रायः गौण रूप में विद्यमान रहता है। लोकनाट्य के रचियता कथा संगठन से ज्यादा नृत्य, संगीत, शारीरिक हाव-भाव पर ज्यादा ध्यान देते हैं। भारतीय लोकनाट्य का प्रथम प्रकार रामलीला है। रामलीला हिन्दी भाषी राज्यों का तो यह प्रमुख लोकनाट्यरूप है ही, पंजाब और गुजरात तथा महाराष्ट्र के कुछ भागों में भी नियमित रूप से इसके प्रदर्शन किए जाते हैं। रामलीला का प्रदर्शन समूचे देश में बड़े व्यापक स्तर पर होता है। उत्तर प्रदेश और बिहार की रामलीला मंडलियाँ गुजरात और महाराष्ट्र के विभिन्न नगरों में बुलाई जाती है। प्रायः सम्पूर्ण भारत में विशेषतः उत्तर भारत में रामलीला दशहरे के अवसर पर लोकप्रिय अभिनय का केंद्र रही है।

लोकनाट्य के अनेक रूप भारत के विविध प्रान्तों में सदियों से जनता का मनोरंजन कर रहे हैं। पंजाब, राजस्थान और उत्तर प्रदेश में नौंटकी, नकल, स्वांग, रामलीला, रासलीला, बंगाल में जात्र, महाराष्ट्र में तमाशा, गुजरात में भवाई, मद्रास प्रांत का पागलवेशम, मैसूर का यक्षगान और आंध्रप्रदेश के विधि नाटकम् बराकथा और कचीपुड़ी आदि लोकनाट्य परम्परा के ज्यादातर प्रकारों का विकास संस्कृत नाट्य रूपों की मौलिक रूढ़ियों और व्यवहारों में हमें समानता दिखाई देती है। आधुनिक भारतीय नाटकों को संस्कृत नाट्य से जोड़ने वाली मूल श्रृंखला विविध क्षेत्रीय नाटकों की है, लोकनाट्य परम्परा भारतीय जनसाधरण के बीच संस्कृत नाटकों के चरमोत्कर्ष काल में ही विद्यमान थी। 'नाट्यशास्त्र' में वर्णित लोकधर्मी नाट्य परम्परा में इसका स्पष्ट वर्णन मिलता है।

बीज शब्द

लोक, नाट्य, नृत्य, अभिनय, गीत, संगीत, समाज, संस्कृति ।

लोकनाट्य शब्द 'लोक' और 'नाट्य' इन दो शब्दों के मेल से बना है 'लोक' शब्द का प्रयोग आमतौर पर आम आदमी या साधारण व्यक्ति या समाज के लिए किया जाता है। समाज के सभ्य, शिक्षित एवं सुसंस्कृत कहे जाने वाले 'लोक' से यह कुछ

मात्रा में भिन्न है। 'लोक' शब्द आडम्बरहीन तथा सहज साधारण रूप से आचार-व्यवहार करने वाले लोगों का बोध होता है। सामान्यतया किसी गाँव में या विशिष्ट आंचलिक प्रदेश में रहने वाले लोगों को 'लोक' शब्द से संबोधित किया जा सकता है।

'नाट्य' शब्द में नृत्य, गीत, संगीत, अभिनेयता, वेशभूषा आदि का अर्थ द्योतित है वास्तव में नाट्य शब्द मंचीय कला का बोध स्पष्ट है। रंगमंच पर खेला जाने वाला नाट्य प्रयोग वास्तव में नाट्य है। यह नाट्य पात्रों के अभिनय, संवाद, नृत्य, गायन आदि के द्वारा अभिव्यक्त होता है, इस दृष्टि से उसका मंचीय रूप विशेष महत्वपूर्ण है।

लोकनाट्य के सम्बन्ध में डॉ. श्याम परमार ने लिखा है कि "लोकनाट्य से तात्पर्य नाटक के उस रूप से है, जिसका सम्बन्ध विशिष्ट क्षितिज समाज से भिन्न सर्वसाधारण के जीवन से हो और जो परम्परा से अपने-अपने क्षेत्र के जनसमुदाय के मनोरंजन का साधन रहा हो।"1

आधुनिक भारतीय नाटकों को संस्कृत नाट्य से जोड़ने वाली मूल शृंखला विविध क्षेत्रीय नाटकों की है, लोकनाट्य परम्परा भारतीय जनसाधरण के बीच संस्कृत नाटकों के चरमोत्कर्ष काल में ही विद्यमान थी। 'नाट्यशास्त्र' में वर्णित लोकधर्मी नाट्य परम्परा में इसका स्पष्ट वर्णन मिलता है। "रामलीला, रासलीला, अंकियानाटक, भागवत आदि आधुनिक आंचलिक नाट्य विधाओं का उद्भव जगदीश चन्द्र माथुर नाट्य काल में उपस्थित संगीत नृत्य-संवाद मिश्रित शैली से मानते है।"

लोकनाट्य के अनेक रूप भारत के विविध प्रान्तों में सदियों से जनता का मनोरंजन कर रहे हैं। पंजाब, राजस्थान और उत्तर प्रदेश में नौंटकी, नकल, स्वांग, रामलीला, रासलीला, बंगाल में जात्र, महाराष्ट्र में तमाशा, गुजरात में भवाई, मद्रास प्रांत का पागलवेशम, मैसूर का यक्षगान और आंध्रप्रदेश के विधि नाटकम् बराकथा और कचीपुड़ी आदि लोकनाट्य परम्परा के ज्यादातर प्रकारों का विकास संस्कृत नाट्य रूपों की मौलिक रूढ़ियों और व्यवहारों में हमें समानता दिखाई देती है। डॉ. जयदेव तनेजा ने लिखा है कि ''मनुष्य द्वारा जब अपनी सुख-दुखात्मक अभिव्यक्तियों के लिए भावों का सहारा लिया गया तो उसे किसी न किसी रूप में मंचित किया गया, जिससे लोकनाट्य का विकास हुआ। गाँव व देहातों में जनसामान्य का मनोरंजन करने वाले किसी भी स्थल को लोकमंच कहा जाता है। उदाहरणस्वरूप- मदारी गली के नुक्कड़ पर झोला रखकर बड़े ही नाटकीय ढंग से तमाशा शुरू करता है, जिसमें लोग एकत्रित होते है और एक मंच बंध जाता है। लोकनृत्य, लोकगीत और लोकनाट्य से सम्बन्धित संस्कार जनसाधारण में लोकधर्मी रूढ़ियों के रूप में प्रवाहमान रहते हैं। इसलिए लोकमंच वह अमर बेल मानी गयी है, जो जनसाधारण से रस खींचकर सदैव हरी-भरी रहती है।''

भारतीय लोकनाट्य रूपों की व्यापकता विविधता और लोकप्रियता निर्विवाद ही हैं। लोकनाट्य के रूप रंग और आस्वाद का प्रत्यक्ष सम्बन्ध भौगोलिक स्थिति और उस क्षेत्र में

प्रचलित कथाओं-प्रसंगों, संस्कारों-व्यवहारों, रुचियों और नृत्य, गीत तथा संगीत के विविध रूपों से अनिवार्यतः दृष्टिगत होती हैं। सभी की प्रकृति अपने स्थानीय सौन्दर्य एक-दूसरे की भिन्नता के लिए हुए आतंरिक और पारंपरिक रूप में अत्यंत जीवंत रूप से समान है। श्यामसुंदर दूबे ने लिखा है कि "लोक निरंतर गतिशील रहा है इसलिए उसके भीतर शास्त्रीयता फिकती रही है और अपना स्थिर आधार बनाकर जड़ीभूत होती रही किन्तु लोक की गत्वरता अपने भीतर नए-नए आशय और नए-नए शिल्प अन्वेषण करती रही है। जैसे रासलीला का विकास एक क्रमिक प्रक्रिया के तहत हुआ होगा। रास सामूहिक नृत्य का पर्याय है, इस सामूहिक नृत्य में प्रतिष्ठित हुई अनेक बोलियों को पार करते हुए रास की लय और भंगिमा कृष्णचर्या में लोक प्रेरणा से ही संभव हुई।"4

लोकनाट्य की उत्पत्ति लोकरंजन के लिए हुई थी। लोकनाट्य में ग्रामीण जीवन के समस्त सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक मान्यताओं तथा प्रवृत्तियों का चित्र उकेरा जाता है। संवाद तत्व की प्रधानता होने से चरित्र-चित्रण प्रायः गौण रूप में विद्यमान रहता है। लोकनाट्य के रचियता कथा संगठन से ज्यादा नृत्य, संगीत, शारीरिक हाव-भाव पर ज्यादा ध्यान देते हैं। काव्यात्मकता, संगीतात्मकता, इन नाट्य शैलियों का विशेष गुण है। लोक संगीत पर आधारित इन नाट्य शैलियों में विभिन्न नाट्य यंत्र हारमोनियम, ढोलक, नगाड़ा, मंजीरे, सारंगी और बांसुरी का प्रयोग किया जाता है।

लोकनाट्य की विभिन्न शैलियाँ

रामलीला

भारतीय लोकनाट्य का प्रथम प्रकार रामलीला है। रामलीला हिन्दी भाषी राज्यों का तो यह प्रमुख लोकनाट्यरूप है ही, पंजाब और गुजरात तथा महाराष्ट्र के कुछ भागों में भी नियमित रूप से इसके प्रदर्शन किए जाते हैं। रामलीला का प्रदर्शन समूचे देश में बड़े व्यापक स्तर पर होता है। उत्तर प्रदेश और बिहार की रामलीला मंडलियाँ गुजरात और महराष्ट्र के विभिन्न नगरों में बुलाई जाती है। प्रायः सम्पूर्ण भारत में विशेषतः उत्तर भारत में रामलीला दशहरे के अवसर पर लोकप्रिय अभिनय का केंद्र रही है। आधुनिक काल में जिसका स्वरूप परिष्कृत हो गए है किन्तु प्रारंभिक अवस्था में यह परिपक्व अभिनय, संगीत एवं समुदाय कथोपकथन द्वारा सभी वर्ग एवं समुदाय के व्यक्तियों का मनोरंजन करती थी। इसमें दो खुले रंगमंच निर्मित किए जाते थे, जिनमें एक पर राम, लक्ष्मण तथा दूसरे पर रावण, कुम्भकर्ण इत्यादि वर्ग के व्यक्ति बैठते थे। परिधान चटकीला रहता था। कहीं-कहीं राम तथा रावण इत्यादि पात्र चौपाइयों में वर्णित संकेतों के अनुसार साधारण अभिनय भी करते थे। भारत की पौराणिक धार्मिक तथा प्रभाव से जिस अभिनय कला का विकास हुआ, उसमें संवाद मात्र हुआ करता था, यह परिपाटी बहुत दिनों तक हिन्दी नाटकों में चलती रही है।

रासलीला

रासलीला विशेष तौर पर श्रीकृष्ण की लीलाओं पर आधारित उत्तर प्रदेश की एक संगीतमय पारम्परिक लोकनाट्य शैली है। आचार्य भरतमुनि ने लोकधर्मी रूपक की जिन विशेषताओं के उल्लेख किया है, रास उन से युक्त है। रासलीलाओं का श्रीगणेश गोचारण, कालियदमन, साँझी, दान और मान जैसी लीलाओं से हुआ। डॉ. सोमनाथ गुप्त रासलीला का आरम्भ "महाप्रभु वल्लभाचार्य की मृत्यु के बाद मानते हैं।" रास मंच पर ब्रज के वन, पर्वत, नदी, गोप, गाय, लोकजीवन का जीवंत प्रसंग अभिनीत होता है। रास में शारीरिक अभिनय को विशेष महत्व दिया जाता है। भाव के अनुरूप नेत्र-संचालन, पग-संचालन, भंगिमा आदि का विशेष महत्व है। विशेष भावों को व्यक्त करने के लिए रास में विशेष हस्त एवं मुख मुद्राओं का प्रयोग होता है। मुख-मुद्राओं में सबसे अधिक महत्व मुस्कान का है।

स्वांग

स्वांग हरियाणा और पंजाब की पारम्परिक लोकनाट्य है। यह परम्परागत नाट्य शैली हरियाणा में अधिक लोकप्रिय है और ऐसा माना जाता है कि वही इसका विकास हुआ। जहाँ तक विषयवस्तु, नाट्य शैली और रंगमंच की तकनीकी इकाइयों का सवाल है, यह उत्तर प्रदेश की

नौटंकी, उत्तर भारत की एक प्रमुख पारम्परिक लोकनाट्य शैली है। नौटंकी का आदि रूप 'सांगीत' के रूप में जाना जाता है। 'सांगीत' की अनेक छवियाँ रही है, जिनमें भगत, स्वांग तथा नौटंकी शामिल है। जयशंकर प्रसाद का मत है कि नौटंकी 'नाटकी' शब्द का अपभ्रंश है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी मानते हैं कि भरत के नाट्यशास्त्र में 'सट्टक' नाम से जिस नाट्य भेद का उल्लेख है, वह नौटंकी जैसा ही खेल था। अमृतलाल नागर का कहना है कि किसी युग में इसके प्रदर्शन का शुल्क 'नौं टक्का' रहा होगा, इसी से यह नौटंकी कहलाई। कुछ विद्वानों का यह भी मानना है कि नौटंकी विधा महज पैसठ-सत्तर साल पुरानी है और यह नामकरण भी उतना ही पुराना है। नौटंकी के संदर्भ में बच्चन सिंह लिखते हैं कि "नौटंकी' उत्तर-भारत का अत्यंत लोकप्रिय नाट्य है। डॉ. बाबूराम सक्सेना ने इसे उर्दू की कविता और लोक-गीत से उद्‌भूत बतलाया है।

लोकनाट्य शैली नौटंकी से मिलती-जुलती है। स्वांग शब्द का अर्थ है - वेशभूषा और सज्जा के आधार पर अपना रूप इस तरह बदल लेना कि असली रूप का पता ही न चले और नकली न प्रतीत हो। जीविकापार्जन के लिए बहुरुपिये भी रूप बदल कर स्वांग ही रचते थे। स्वांग के कलाकार होली के त्यौहार पर टोलियों में घूम-फिर कर अपनी कला प्रदर्शित करते हैं तथा दशहरे के पर्व पर झाँकियाँ प्रस्तुत करते हैं। इनमें अक्सर मूर्तियों के समान किसी एक भाव को स्थिर बना कर सामाजिक या पौराणिक कथाएँ प्रस्तुत की जाती है। इस नाट्य शैली में भी

नौटंकी की भांति नगाड़े और ढोल के नाद से कार्यक्रम की घोषणा होती है। जब दर्शक इकट्ठे हो जाते हैं, तो संगीत के साथ स्वांग शुरू होता है। शहनाई, सारंगी, हारमोनियम और मंजीरे के स्वरों के साथ गायक या गायकों की आवाज गूँजती है। संगीतकारों की वेशभूषा दशकों से वही चली आ रही है। स्वांग में कभी तो गायन के आधार पर कथा सुनायी जाती है, तो कभी नाटक के रूप में इसका प्रस्तुतिकरण होता है। स्वांग की विषयवस्तु अधिकतर पौराणिक या ऐतिहासिक होती है।

नौटंकी

नौटंकी, उत्तर भारत की एक प्रमुख पारम्परिक लोकनाट्य शैली है। नौटंकी का आदि रूप 'सांगीत' के रूप में जाना जाता है। 'सांगीत' की अनेक छवियाँ रही है, जिनमें भगत, स्वांग तथा नौटंकी शामिल है। जयशंकर प्रसाद का मत है कि नौटंकी 'नाटकी' शब्द का अपभ्रंश है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी मानते हैं कि भरत के नाट्यशास्त्र में 'सट्टक' नाम से जिस नाट्य भेद का उल्लेख है, वह नौटंकी जैसा ही खेल था। अमृतलाल नागर का कहना है कि किसी युग में इसके प्रदर्शन का शुल्क 'नौं टक्का' रहा होगा, इसी से यह नौटंकी कहलाई। कुछ विद्वानों का यह भी मानना है कि नौटंकी विधा महज पैसठ-सत्तर साल पुरानी है और यह नामकरण भी उतना ही पुराना है। नौटंकी के संदर्भ में बच्चन सिंह लिखते हैं कि "नौटंकी' उत्तर-भारत का अत्यंत लोकप्रिय नाट्य है। डॉ. बाबूराम सक्सेना ने इसे उर्दू की कविता और लोक-गीत से उद्भूत बतलाया है। 11वीं-12वीं शताब्दी में 'हीर राँझा' की कथा को नौटंकी का रूप दिया गया, ऐसा कहा जाता है, किन्तु इसके समर्थन में कोई प्रमाण नहीं उपलब्ध है। 18वीं शताब्दी तक नौटंकी समस्त उत्तर भारत में व्याप्त हो चुकी थी। नौटंकी में नगाड़े की ध्वनि पर खेल नियंत्रित किया जाता है। यह रात्रि में काफी देर से आरम्भ होकर प्रातः काल तक चलती रहती है।" नौटंकी अधिकांशतः सांगीतीय होती है। इसमें कव्वाली, गजल, ठुमरी का भी असर देखा गया है। लोकशैली के दोहे, चौबोला, लावनी, मांड, नौटंकी लोकनाट्य के नाटकीय प्रसंगों, संवेदनाओं तथा संवादों को अर्थपूर्ण बनाने के उद्देश्य से अपनाए गए हैं। जाने आलम, भक्त पूरनमल, लालारुख, प्रेमकुमारी, आँखों का जादू आदि श्रृंगार प्रधान कथानक पर आधारित प्रसिद्ध नौटंकियाँ है, जिन पर ब्रजभाषा का प्रभाव है। नौटंकी में पंजाबी भाषा और अमीर खुसरों की भाषा का प्रभाव भी कहीं-कहीं दिखाई देता है।

माच

माच मध्य प्रदेश के मालवा और उसके आस-पास के क्षेत्रों में एक अत्यंत लोकप्रिय नाट्यशैली है। संगीत का जहाँ तक प्रश्न है, यह राजस्थान की ख्याल शैली और उत्तर प्रदेश की नौटंकी से कुछ समानता रखता है। माच की अपनी छाप और पहचान कविता और छंद से भी बनती है। मालवा में प्रचलित माच के पहले प्रवर्तक बालमुकन्द गुरु माने जाते हैं, जो उज्जैन के रहने वाले थे, इन्होंने माच के सोलह खेल लिखे हैं, उनमें वह खुद मुख्य पात्र का अभिनय भी करते थे। माच की उत्पति 'मंच' शब्द से हुई मानी जाती है। माच अर्थात् मंच जो अक्सर किसी

खुली जगह में तैयार किया जाता है। माच शुरू करने से एक सप्ताह पहले किसी खुली जगह में 'माच' का खम्ब यानी खम्बा गाढ़ा जाता है। उसके आसपास माच-मण्डली के कलाकार इकट्ठे होते हैं और अपने गुरु के हाथों से खम्ब की पूजा करवाते हैं। माच मंच में रंगशाला कोई स्थान नहीं होता। सभी पात्र मंच के पास ही वस्त्रादि बदल कर आते हैं। सुविधा की दृष्टि से दर्शकों मंच के तीन ओर ही बैठने दिया जाता है। मंच पर तीन ओर से नाटक का प्रस्तुतिकरण होता है।

ख्याल

ख्याल राजस्थान के लोक नाट्य की सबसे लोकप्रिय विद्या है। इसके 18 वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही राजस्थान में लोक नाट्यों के नियमित रूप से सम्मिलित होने के प्रमाण मिलते हैं। ख्याल शब्द खेल शब्द का अपभ्रंश है। यहाँ खेल से तात्पर्य नाटक खेलने से है। ख्याल के अभिनेता को 'खिलाड़ी' कहते हैं। ख्यालों की विषय-वस्तु पौराणिक या किसी पुराख्यान या ऐतिहासिक पुरुषों के वीराख्यान या लोक देवता व लोक देवियों के कल्याणकारी गाथा से जुड़ी होती है।

निष्कर्षत : कहा जा सकता है कि लोकनाट्य हमारी प्रागैतिहसिक, ऐतिहासिक और परम्परागत रूढ़ियों में वर्णित जीवन पद्धति, जीवन प्रकृति और प्रवृत्ति के स्वरूप को सुनिश्चित करने में सहायक सिद्ध हुए हैं। लोकनाट्य की शैलियों लचीलापन है, रासलीला, रामलीला, स्वांग, नौटंकी, ख्याल और माच आदि कथानकों व प्रसंगों द्वारा वर्तमान समस्याओं का समावेश होता रहता है, जिससे इसकी प्रासंगिकता और जीवन्तता बनी रहती है, लोकनाट्य का अपना रचना विधान है, जिसके निरंतर प्रयोग से ही इसका विकास होना संभव हो पाया है।

संदर्भ सूची

1. डॉ. श्याम परमार, लोकधर्मी नाट्य परम्परा, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय वाराणसी, पृ. 30-31
2. जगदीश चन्द्र माथुर, परम्पराशील नाट्य, पृ. 100
3. जयदेव तनेजा, हिन्दी रंग दशा और दिशा, पृ. 126
4. श्याम सुंदर दूबे, लोक परम्परा, पहचान एवं प्रवाह, पृ. 31
5. रीतारानी पालीवाल, रंगमंच : नया परिदृश्य, पृ. 155
6. बच्चन सिंह, हिन्दी नाटक, पृ. 23-24

बाबूलाल मीना, पीएच. डी. शोधार्थी, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
मो. : 8209087766, ई-मेल : babulalmeena10101@gmail.com

'शताब्दी साहित्यकार जन्मोत्सव' के अवसर पर डॉ. रामदरश मिश्र पर केंद्रित चार पुस्तकों 'रामदरश मिश्र रचना संचयन' (संपादक डॉ. प्रकाश मनु), 'रामदरश मिश्र : समय समालोचन' (संपादक ओम निश्चल), 'बनाया है मैंने यह घर धीरे-धीरे', 'रामदरश मिश्र के उपन्यास' (लेखक दिनेश प्रसाद सिंह) और 'शब्दायतन' (संपादक हरिशंकर राढ़ी) का लोकार्पण किया गया।

रामदरश मिश्र के 101वें जन्मोत्सव में साहित्य सृजन को समर्पित भव्य सम्मान समारोह आयोजित

डॉ. वेदमित्र शुक्ल

मुक्तांगन में आयोजित 'सुजन सम्मान' में साहित्यकारों और प्रतिभाशाली युवा रचनाकारों का सम्माननीय पुस्तकों का लोकार्पण व विशिष्ट अतिथियों को संबोधित किया गया।

15 अगस्त, 2025 नई दिल्ली में हिंदी साहित्य के वरिष्ठ लेखक और कवि प्रोफेसर रामदरश मिश्र के 101 वें जन्मोत्सव के उपलक्ष्य में 'रामदरश मिश्र शताब्दी सुजन सम्मान समारोह' बड़ी गरिमा और उत्साह के साथ द्वारका सेक्टर 25 स्थित मुक्तांगन में सम्पन्न हुआ। कार्यक्रम का शुभारंभ दीप प्रज्ज्वलन एवं डॉ. वेद मित्र शुक्ल द्वारा बाँसुरी पर मंगल वाद्य-वादन सहित सुपरिचित लोक

गायिका चंदन तिवारी द्वारा रामदरश मिश्र जी के गीत और गजलों के गायन से हुआ। दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रो. राम नारायण पटेल द्वारा भी मिश्र जी के गीतों का गायन प्रस्तुत किया गया। इस अवसर पर न्यास की महासचिव एवं दिल्ली विश्वविद्यालय में हिंदी की प्रोफेसर स्मिता मिश्र ने कार्यक्रम की भूमिका और रामदरश मिश्र न्यास के उद्देश्यों, अवदान व साहित्यिक सरोकारों पर प्रकाश डालते हुए समारोह की संकल्पना रखी।

कार्यक्रम में मुख्य अतिथि श्रीमती ममता कालिया के साथ-साथ प्रमुख साहित्यकारों जिनमें डॉ. सुरेश ऋतुपर्ण, प्रसिद्ध नाटककार प्रताप सहगल, कवि व पत्रकार राधेश्याम तिवारी एवं डॉ. ओम निश्चल जी का पुष्पगुच्छ, शॉल, पुस्तक तथा प्रतीक चिह्न देकर सम्मान किया गया। स्वागत करने वालों में डॉ. अंजलि तिवारी, श्री अश्विनी तिवारी, श्री शशांक मिश्र, केशव मोहन पाण्डेय, के. पी. सिंह, डॉ. माया मिश्र आदि प्रमुख रहे।

समारोह का मुख्य आकर्षण रामदरश मिश्र जी से जुड़ी चार पुस्तकों एवं एक आलोचना-पत्रिका का सामूहिक लोकार्पण भी रहा। इनमें साहित्य अकादमी से प्रकाशित व डॉ. प्रकाश मनु द्वारा संपादित 'रामदरश मिश्र रचना संचयन', सर्व भाषा ट्रस्ट से ओम निश्चल द्वारा संपादित 'रामदरश मिश्र : समय समालोचन' एवं 'बनाया है मैंने यह घर धीरे-धीरे', लेखक दिनेश प्रसाद सिंह कृत 'रामदरश मिश्र के उपन्यास' और साथ ही हरिशंकर राढ़ी द्वारा संपादित 'शब्दायतन' पत्रिका का का विमोचन मुख्य अतिथियों द्वारा किया गया।

पुरस्कार वितरण के सत्र में निर्णायकों द्वारा चयनित दो युवा रचनाकारों को 'सुजन सम्मान' प्रदान किया गया, जिनमें कविता वर्ग में राहुल शिवाय कृत 'दिल्ली कितनी दूर' तथा कथा वर्ग में आकाश माथुर कृत 'मुझे सूरज चाहिए' के दोनों विजेताओं को शॉल, ट्रॉफी, प्रमाण-पत्र और सम्मान राशि का चेक प्रदान किया गया। विजेताओं ने अपने प्रतिक्रिया वक्तव्य में कहा कि यह सम्मान उन्हें साहित्य में निरंतर सृजनशील बने रहने की प्रेरणा देगा।

अंत में स्वीकृति वक्तव्य एवं आभार ज्ञापन डॉ. वेद मित्र शुक्ल द्वारा प्रस्तुत किया गया। उन्होंने कहा कि यह सम्मान समारोह रामदरश मिश्र जी के साहित्यिक संस्कारों की जीवंत पुनःस्थापना है और इससे नई पीढ़ी के रचनाकारों को एक ऊर्जावान मंच मिलेगा।

कार्यक्रम में डॉ. प्रताप सहगल, डॉ. सुरेश ऋतुपर्ण, राधेश्याम तिवारी, डॉ. लक्ष्मी शंकर वाजपेयी, डॉ. प्रेम जन्मेजय, सुश्री वाजदा खान, प्रो. जसवीर त्यागी समेत अनेक वरिष्ठ साहित्यकार, पाठक और शोध छात्र उपस्थित रहे। कार्यक्रम का संचालन प्रख्यात कवि आलोचक डॉ. ओम निश्चल ने किया। इस आयोजन के गरिमामयी संयोजन एवं साहित्यिक परिवेश से उपस्थित जन देर शाम तक अभिभूत रहे।

डॉ. वेदमित्र शुक्ल

✧ ✧ ✧

पद्मश्री प्रोफेसर रामदरश मिश्र की 101वीं जयंती के अवसर पर आयोजित 'शताब्दी सृजन सम्मान समारोह' में मुख्य अतिथि वरिष्ठ कवि ओम निश्चल को सम्मानित किया गया।

'शताब्दी सृजन सम्मान समारोह' मुख्य अतिथि डॉ. ममता कालिया, डॉ. सुरेश ऋतुपर्ण, प्रताप सहगल, कवि पत्रकार राधेश्याम तिवारी डॉ. ओम निश्चल, लोक गायिका चंदन तिवारी, वेदमित्र शुक्ल आदि ।

'शताब्दी सृजन सम्मान समारोह' में विचार रखते हुए 'व्यंग्य यात्रा' के यशस्वी संपादक डॉ. प्रेम जनमेजय और मंचासीन विद्वतजन।

पद्मश्री प्रोफेसर रामदरश मिश्र की 101वीं जयंती के अवसर पर आयोजित 'शताब्दी सृजन सम्मान समारोह' में डॉ. दिनेश प्रसाद सिंह सम्मान ग्रहण करते हुए।

RNI No. : BIHHIN05272
ISSN 2349 - 1906
Postal Registration No. : PT-7C

Design & Print @ Gyan Ganga Creations # 09334110685